संस्था की आजीवन सदस्यता शुल्क

रु. 1100/-

अनेकान्त वार्षिक शुल्क

रु. 30/-

इस अंक का मूल्य

रु. 25/-

सदस्यों एवं मंदिरों के लिए निःशुल्क

प्रकाशक :

भारतभूषण जैन, एडवोकेट

नई दिल्ली-110 002

मुद्रक :

मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

60/1-2-3-4

अनेकान्त
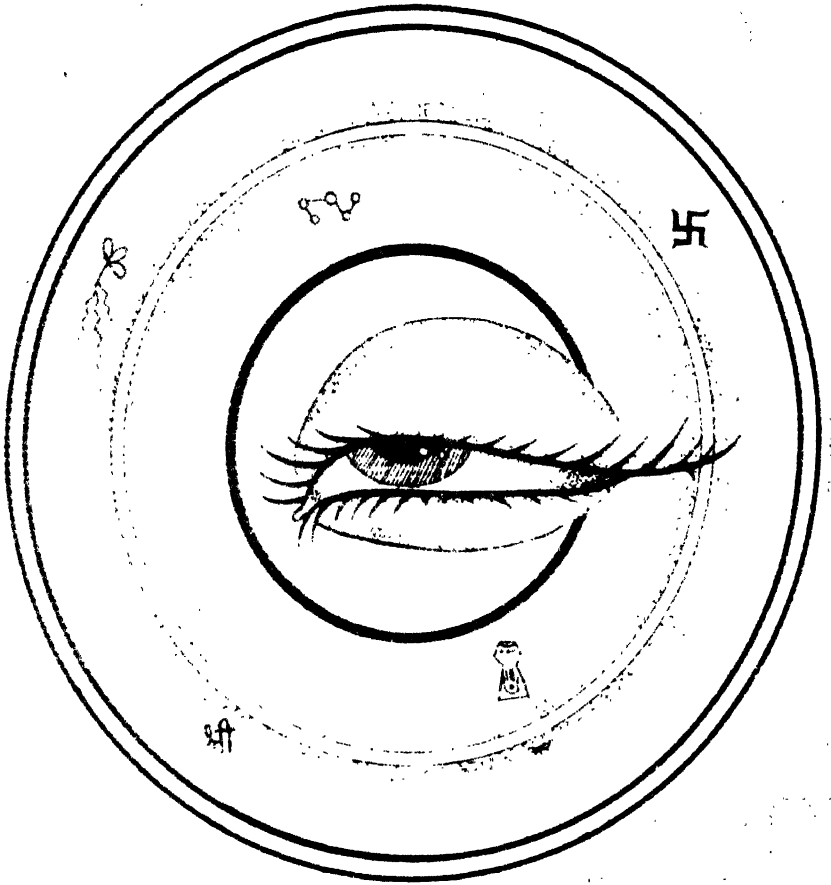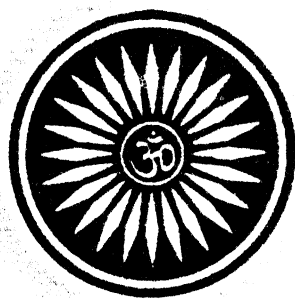
वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

वर्ष-61, किरण-1 से 4

अनेकान्त

वार्षिक

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

सम्पादक :

डॉ. जयकुमार जैन

429, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

फोन: 9837002389, 9760002389

सहसम्पादक :

डॉ. अनेकान्त जैन

महरौली, दिल्ली-30

मो.: 9868034740

विशेष सूचना :

विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं।
यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर 10591/62)

7143

अध्यात्म-पद
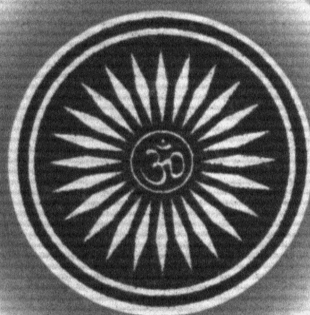
लोभ महा दुखदाई

जिय कौ लोभ महा दुखदाई।
जाकी सोभा वरनी न जाई।।
लोभ करै मूरख संसारी।
छांडै पंडित सिव अधिकारी।। जिय . . . ।।1।।
तजि घर वास फिरै वन मांही,
कनक कामिनी छांडै नांही।।
लोक रिझावन कौं व्रत लीना।
व्रत न होय ठगि सा कीना।। जिय . . . ।।2।।
लोभ वसात जीव हति डारै।
झूठ बोलि चोरी चित धारै।।
नारि गहै परिग्रह विसतारै।
पांच पाप करि नरक सिधारै।। जिय . . . ।।3।।
जोगी जती गृही वनवासी।
वैरागी दरवेश संन्यासी।।
अजस खानि जस की नहीं रेखा।
द्यानत जिनकै लोभ विसेखा।। जिय . . . ।।4।।

– कविवर द्यानतराय जी

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

आज प्राच्य विद्याओं के अनुशीलन में जैन विद्या का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया जाने लगा है। पूरे देश में संतों और विद्वानों ने पिछले कुछ दशकों में साधनों के अभाव में रहकर भी जो आन्दोलन चलाये, उनसे जैन विद्या-अनुसंधान के क्षेत्र में कुछ आशा की किरणें भी फूटी हैं, किन्तु कहना गलत न होगा कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय की ओर हम दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि अन्य प्राच्य विद्याओं के अनुशीलन-अनुसंधान की मात्रा की तुलना में आज भी हम नगण्य ही हैं। व्यापक सोच, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गुणात्मक कार्य और दूरगामी परिणामों को प्राप्त कराने वाली योजनाओं के लिए धैर्य – इन सभी विषयों में आज भी हम पीछे ही हैं। इसके पीछे भी अनेक कारण रहे हैं, और उनमें से प्रमुख कारण रहा है : भारत सरकार द्वारा जैन विद्या और प्राकृत भाषा के शोध-अनुसंधान की उपेक्षा, जो आरंभ से ही आज तक चली आ रही है। उदाहरण के लिए आज देश की राजधानी दिल्ली जैसे महानगर में भी भारत की लगभग सभी भाषाओं की अकादमी हैं, जैसे हिन्दी अकादमी, उर्दू अकादमी, संस्कृत अकादमी, पंजाबी अकादमी इत्यादि; किन्तु अभी तक देश की प्राचीनतम भाषा 'प्राकृत' के लिए प्राकृत अकादमी नहीं है।

सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार आवश्यकता है कि अर्वाचीन इतिहास की समन्वय-प्रधान चक्षुष्मत्ता से विशाल जैन साहित्य का अनुशीलन किया जाये। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का ही आवश्यक अंग उन ग्रन्थों का समुचित सम्पादन और प्रकाशन है, क्योंकि इस विषय में जो सौभाग्य बौद्ध और ब्राह्मण साहित्य को प्राप्त हुआ, जैन साहित्य अधिकांश रूप में उससे वंचित ही रहा। अतएव वर्तमान युग की आवश्यकता है कि इस विशाल साहित्य का शीघ्र प्रकाशन किया जाये। यह कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अनेक विद्वानों और दाताओं की सहायता की अपेक्षा रखता है। अतएव कितने ही स्थानों से और कई योजनाओं के अन्तर्गत इसे पूरा करना होगा। कार्य इतना विशाल है कि इसमें सबके सहयोग की अपेक्षा है। साम्प्रदायिक संकीर्णता अथवा पारस्परिक स्पर्धा के लिए किसी प्रकार का अवसर न होना चाहिए।

जैन शोध में गुणवत्ता और व्यापकता की कमी का एक मुख्य कारण अन्य परम्पराओं के ग्रंथों का अध्ययन करने की रुचि का न होना भी है। जो दर्शन जानते हैं वे भाषा नहीं जानते, जो भाषा जानते हैं वे दर्शन नहीं जानते। अन्य भारतीय परम्पराओं के अध्ययन के अभाव में अनुसंधान का दायरा भी बहुत सीमित हो जाता है, जिसमें वह व्यापकता को प्राप्त नहीं कर पाता है। हमारी धर्म परम्पराओं की पुरानी दृष्टि बदलनी हो तो हमें नीचे लिखे अनुसार काम करना होगा।

1. प्रत्येक धर्म परम्परा को दूसरी धर्म परम्परा का उतना ही आदर करना चाहिए, जितना वह अपने बारे में चाहती है।

2. इसके लिए गुरुवर्ग और पण्डितवर्ग सबको आपस में मिलने-जुलने का प्रसंग पैदा करना और उदार दृष्टि से विचार-विनिमय करना। जहाँ ऐकमत्य न हो, वहां विवाद में न पड़कर सहिष्णुता की वृद्धि करना। धार्मिक और सांस्कृतिक अध्ययन-अध्यापन की परम्पराओं को इतना विकसित करना कि जिसमें किसी एक धर्म परम्परा का अनुयायी अन्य धर्म परम्पराओं की बातों से सर्वथा अनभिज्ञ न रहे और उनके मन्तव्यों को गलत रूप में न समझे।

शोध के क्षेत्र में सबसे अधिक घातक होता है, दुराग्रह। लगातार कई वर्षो से शोध-स्तर को सुधारने के प्रयासों के बावजूद, आज कुछ ही लोग मिलते हैं जो इससे अलग रह पाते हैं। एक तरफ सरकारी उपेक्षा, समाज-स्तर पर शोध के क्षेत्र में रुचि न होने के कारण पर्याप्त सहयोग और अन्य साधनों का अभाव है; दूसरी तरफ सीमित विद्वान्, सीमित शक्ति और संसाधन भी सीमित हैं। इसलिए आज इसके लिए एक विशाल टीमवर्क की आवश्यकता है जो कार्य को मुख्यता दे। जब तक पद, नाम, मान, पैसा, राजनीति और सबसे बड़ी बात – दुराग्रह दूर नहीं होगा, तब तक मंजिल प्राप्त नहीं की जा सकती है। यह कार्य शांत, दीर्घकालिक और दूरगामी परिणाम देने वाला है। गणना में कम तथा संसाधन सीमित होने के बाद उनमें भी खींचातानी आत्मघाती ही है।

हमारी आपसी समस्याओं का असर शोध कार्यो पर पड़ता है। हमारी शक्ति और समय का अपव्यय व्यर्थ की उन उलझनों में होता रहता है, जिन्हें हम स्वयं ही उत्पन्न करते हैं। यह भी कम आश्चर्य नहीं कि जर्मनी के विद्वानों ने जैनागमों पर शोधकार्य किया और हमें ही हमारी सम्पदा का महत्त्व समझाया।

सम्पूर्ण प्राच्य विद्या के क्षेत्र में यह लाचारी व्याप्त है कि हमें अपने ग्रन्थों को समझने के लिए विदेशियों के ग्रन्थ पढ़ने पड़ते हैं। इस संदर्भ में पं. सुखलाल जी कहते हैं :

"यूरोपीय विद्वानों ने पिछले सवा सौ वर्ष में भारतीय विद्याओं का जो गौरव स्थापित किया है, संशोधन किया है, उसकी बराबरी करने के लिए तथा उससे कुछ आगे बढ़ने के लिए हम भारतवासियों को अब अध्ययन-अध्यापन, चिन्तन, लेखन और संपादन-विवेचन आदि का क्रम अनेक प्रकार से बदलना होगा, जिसके बिना हम प्राच्य-विद्या-विशारद यूरोपीय विद्वानों के अनुगामी तक बनने में असमर्थ रहेंगे। शोध, अनुसंधान-अनुशीलन के लिए भारत में बहुत सारी जैन संस्थाएं व पुस्तकालय निर्मित हैं, किन्तु प्रायः वहाँ अच्छी व्यवस्था का, अन्य परम्पराओं के ग्रन्थों का तथा शोध करने वाले अच्छे छात्रों का अभाव ही दिखाई देता है, जिसके कारण उद्देश्य सफल नहीं होते और सामाजिक संकीर्णता उन पर हावी हो जाती है। तब शोध की बात तो दूर सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित होने के कारण शास्त्रों का बहिष्कार तक कर दिया जाता है और वे बाहर तक फेंक दिये जाते हैं।" पं. सुखलाल जी का मानना है –

"उच्च विद्या के केन्द्र अनेक हो सकते हैं। प्रत्येक केन्द्र में किसी एक विद्या परम्परा की प्रधानता भी रह सकती है। फिर भी ऐसे केन्द्र अपने संशोधन कार्य में पूर्ण तभी बन सकते हैं, जब अपने साथ सम्बन्ध रखने वाली विद्या परम्पराओं की भी पुस्तक आदि सामग्री वहां सम्पूर्ण तथा सुलभ हो। पाली, प्राकृत, संस्कृत भाषा में लिखे हुए सब प्रकार के शास्त्रों का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कोई भी एक शाखा की विद्या का अभ्यासी, विद्या की दूसरी शाखाओं के आवश्यक वास्तविक परिशीलन को बिना किये सच्चा अभ्यासी बन ही नहीं सकता, जो परिशीलन अधूरी सामग्री वाले केन्द्रों में संभव नहीं।"

अन्य परम्पराओं को जानने-समझने की रुचि का अभाव रहता तो बात एक बार चल भी जाये किन्तु इतिहास गवाह है कि हमने ही अपनी भाषा – प्राकृत को न कभी अच्छे से पढ़ा और न जाना। यह हमारे द्वारा ही उपेक्षित रही। आज भी भारत का अधिकांश जैन समाज यह नहीं जानता कि 'णमोकार मंत्र' किस भाषा में लिखा है। वे इसे संस्कृत ही समझते हैं। यही कारण है कि हमारे शास्त्रों-ग्रन्थों में से ही अर्थ का अनर्थ निकल जाता है।

वास्तव में जैन ग्रन्थों के अनुसंधान के लिए ग्रन्थों में आयीं मूल गाथाओं के सही पाठों को प्राप्त करने के लिए भाषा, दर्शन, व्यापक चिन्तन और कठोर परिश्रम की नितान्त आवश्यकता है। साथ ही सहिष्णुता और धैर्य के साथ किया गया कार्य ही गुणवत्ता के आधार पर श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर पाता है। जैनदर्शन के महान् वेत्ता पं. महेन्द्र कुमार जैन, न्यायाचार्य का इस क्षेत्र में यह कथन द्रष्टव्य है :

"संशोधन के क्षेत्र में हमें पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर जो भी विरोध या अविरोध दृष्टिगोचर हों उन्हें प्रामाणिकता के साथ विचारक जगत् के सामने रखना चाहिए। किसी संदिग्ध स्थल को खींचकर किसी पक्ष विशेष के साथ मेल बैठाने की वृत्ति संशोधन-शोध के दायरे को संकुचित कर देती है। संशोधन के पवित्र विचारभूत स्थान पर बैठकर हमें उन सभी साधनों की प्रामाणिकता की जांच कठोरता से करनी होगी जिनके आधार से हम किसी सत्य तक पहुँचना चाहते हैं। पट्टावली-शिलालेख, दानपत्र-ताम्रपत्र, ग्रन्थों के उल्लेख आदि सभी साधनों पर संशोधक पहले विचार करेगा। कपड़ा नापने के पहले गज को नाप लेना बुद्धिमानी की बात है।"

ये विचार आज से लगभग पचपन वर्ष पूर्व इन मनीषियों ने व्यक्त किये थे किन्तु आज भी प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। इन पचपन सालों में इतना अधिक परिवर्तन हो जाना चाहिए था कि ये विचार आज की तिथि में नितान्त अप्रासंगिक लगने लगते, किन्तु समग्र मूल्यांकन करने पर ऐसा लगता है कि अभी तक जितना विकास हुआ है वह पर्याप्त नहीं है। वैचारिक सहिष्णुता का अभाव, मताग्रह, हठाग्रह तथा दुराग्रह आदि अनेक 'ग्रह' आज भी यथावत् विद्यमान हैं। इन सबसे निजात पाने की कोशिशें तो हमें जारी रखनी ही होंगी।

निष्कर्षतः हम यही कह सकते हैं कि जैन शोध-अनुसंधान को एक नयी दिशा देने के लिए हमें युग के अनुरूप प्रस्तुति देनी होगी; सरकार, समाज और साधु – इन तीनों का मुख्य रूप से इस ओर रुझान खींचना होगा, पुराने विद्वानों के अनुभव और नये विद्वानों की शक्ति को एक मंच पर लाना होगा, दोनों ओर सहिष्णुता की भावना विकसित करनी होगी। विशाल और दूरगामी परिणाम वाली योजनायें निर्मित करनी होंगी, उन पर 'टीमवर्क' कठोर परिश्रम के साथ करना ही होगा, तभी जैन विद्या, प्राकृत-अपभ्रंश भाषा एवं इनके साहित्य को व्यापकता प्रदान की जा सकती है और पूरे विश्व के मानचित्र पर उसे स्थापित किया जा सकता है।

जैन अनुसंधान के क्षेत्र में त्रैमासिक शोध पत्रिका 'अनेकान्त' का एक समृद्ध इतिहास रहा है। इसने जैन अनुसंधान को कई नये आयाम दिये हैं। हमारा प्रयास है कि 'अनेकान्त' में नये, मौलिक शोध निबन्धों को प्रकाशित किया जाये। जैनविद्या तथा प्राकृत भाषा से सम्बन्धित वैचारिक गवेषणात्मक, तुलनात्मक शोधपूर्ण स्तरीय निबन्ध प्रकाशन हेतु सदेव आमंत्रित हैं। निबन्ध की प्रामाणिकता, उपयोगिता तथा उसके स्तर का मूल्यांकन करके ही उसे अनेकान्त में प्रकाशित किया जाता है। हम चाहते हैं कि शास्त्रीय निबन्धों के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा युगीन समस्याओं के सन्दर्भ में भी जैनविद्या के विविध पहलुओं से सम्बन्धित निबन्ध प्रकाशित हों। दर्शन को मात्र बौद्धिक विमर्श तक सीमित न रखकर उसमें छिपे उन सूत्रों को सार्वजनिक करने की आवश्यकता है जिनसे मनुष्य के प्रायोगिक जीवन को सुव्यवस्थित करने में सहायता मिलती है।

प्राचीन जैन आगमों, शास्त्रों में से ऐसे सूत्र भी खोजे जा सकते हैं जो विज्ञान को नयी दिशा दे सकें, प्रबन्धन की कला बता सकें, या फिर तनाव-मुक्ति के सूत्र दे सकें। इन विषयों से सम्बन्धित प्रामाणिक आलेख भी आमंत्रित है।

विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों में जो भी छात्र शोध-कार्य कर रहे हैं, यदि वे उपरोक्त सभी विषयों से सम्बन्धित मौलिक शोध-निबन्ध अपने निर्देशक महोदय से संस्तुत करवा कर भेजते हैं, तो हम उन्हें भी प्रोत्साहित करेंगे। उनके शोध-प्रबन्ध पूर्ण होने के बाद हमारा प्रयास होगा कि उनके शोध-निष्कर्ष को शोध-प्रबन्ध के परिचय के साथ प्रकाशित किया जाये। इससे समकालीन शोध कार्यों से अन्य सभी शोधार्थी परिचित हो सकेंगे एवं उससे लाभान्वित होंगे।

इसी अंक से हम साहित्य-समीक्षा भी प्रारंभ कर रहे हैं। समकालीन जो भी साहित्य जैनविद्या एवं प्राकृत भाषा से सम्बन्धित विषयों में प्रकाशित हो रहा है, इस स्तम्भ में उसकी समीक्षा प्रकाशित की जायेगी। ग्रन्थों की समीक्षा के लिए, प्रकाशित ग्रन्थों की दो प्रतियाँ कार्यालय में प्रेषित करना अनिवार्य होगा। ऐसा शोध-प्रबन्ध या कोई भी पाण्डुलिपि जो प्रकाशित नहीं की गयी है, उसकी मात्र एक प्रति भी भेजी जाये तो उसकी समीक्षा भी हम पाठकों के लाभ के लिए प्रकाशित करेंगे।

कोई भी पत्रिका बिना लेखकों एवं पाठकों के उत्साहपूर्ण सहयोग के अधूरी

है। लेखकों से हमारा निवेदन है कि वे स्तरीय निबन्ध प्रकाशन हेतु भेजते रहें और सुधी पाठक निबन्धों को पढ़कर अपने विचार हमें अवश्य प्रेषित करें; महत्त्वपूर्ण विचारों को भी हम पत्रिका में स्थान देंगे।

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

लेखकों से निवेदन

1. लेख स्वच्छ – हस्तलिखित अथवा टंकित ही भेजें।
2. लेख के साथ इस आशय का प्रमाण पत्र अवश्य संलग्न करें कि यह लेख अन्यत्र अप्रकाशित है तथा प्रकाशन हेतु कहीं नहीं भेजा गया है।
3. अप्रकाशित निबन्ध को ही प्रकाशन में वरीयता दी जायेगी तथा निर्धारित मानदेय भी दिया जायेगा।
4. यदि लेख कम्प्यूटर पर टंकित हो तो उसके Font के साथ उसे सी. डी. के रूप में भी भेज सकते हैं। अथवा, उसे हमारे निम्नलिखित ID पर E-mail द्वारा भी भेज सकते हैं :

   veersewamandir@gmail.com
5. पुस्तक समीक्षा हेतु पुस्तक की दो प्रतियाँ अवश्य भेजें तथा संभव हो तो दो पृष्ठों में उस पुस्तक का संक्षिप्त परिचय भी भेजें। स्तरीय तथा महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की ही समीक्षायें प्रकाशित की जायेंगी।
6. लेख भेजने से पूर्व उसकी एक प्रति अपने पास सुरक्षित रखें। अप्रकाशित निबन्ध लौटाये नहीं जायेंगे।
7. लेख में उल्लिखित मूल श्लोकों, गाथाओं, उद्धरणों तथा सभी सन्दर्भों को मूल ग्रन्थ से मिलाकर शुद्ध करके ही भेजें। प्रायः प्रूफ रीडिंग में इनका मिलान आपके प्रेषित लेख की मूल कॉपी से ही संभव होता है।

पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार के प्रकीर्णक निबंधों का मूल्यांकन

– प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी

जैन परम्परा के इतिहास और साहित्य आदि के क्षेत्र में पं. नाथूरामजी प्रेमी, डॉ. हीरालालजी जैन, डॉ. कामताप्रसादजी, डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, पं. कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री, पं. परमानन्दजी, पं. मिलापचन्द कटारिया, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ. जगदीशचंद जी आदि जिन अनेक विद्वानों के लेखन से मैं अत्यधिक प्रभावित रहा हूँ, उनमें श्रद्धेय पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार का अन्यतम स्थान और नाम रहा है। इन सबके द्वारा लिखित साहित्य को पढ़कर मुझे इस क्षेत्र में विशेष आकर्षण और बहुत कुछ कार्य करने की प्रेरणायें प्राप्त हुईं। श्रद्धेय मुख्तार सा. का सृजन इतनी विविधता और विशालता लिए हुए है कि आश्चर्य होता है कि क्या एक जीवन में इतना कार्य सम्भव है? उन्होंने दूसरों को इन क्षेत्रों में नये-नये लेखन और अनुसंधान करने की प्रेरणा, मार्गदर्शन दिया और दूसरों के लेखन के संशोधन जैसे कार्य भी उन्होंने कम नहीं किये।

मुख्तार जी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व आदर्श और महानता की एक मिसाल है। इन्होंने सन् 1896 से ही लेखन कार्य प्रारम्भ कर दिया था। राष्ट्रवादी विचारधारा की साकार प्रतिमूर्ति तो वे थे ही, एक श्रेष्ठ कवि भी थे। आपके द्वारा "जिसने राग द्वेष कामादिक जीते . . . " रूप में लिखित 'मेरी भावना' नामक पद्य रचना धर्म, समाज, राष्ट्रभक्ति और आत्म-उन्नयन के लिए समर्पित अमर कविता है। यह सार्वत्रिक, सार्वकालिक और समसामयिक भी है; इसीलिए यह लोकप्रिय 'मेरी भावना' कविता अनेक स्कूलों, सार्वजनिक सभाओं में प्रार्थना के रूप में भी गायी जाती है। वस्तुतः मुख्तार जी की यह कविता ही उन्हें महान् कवि, लेखक, चिन्तक और सच्चा देशभक्त सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थी,

इसके बावजूद उन्होंने जितने परिमाण में साहित्य सर्जना की, उसमें यथेष्ट गुणात्मकता भी है।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने इनके विषय में लिखा है कि वे अध्ययन और मनन द्वारा जिन निष्पत्तियों को ग्रहण करते थे, उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करने के लिए भेज देते थे। निबन्ध लिखना और मौजी बहार में आकर कविता लिखना इनकी दैनिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत था।

पं. मुख्तार जी ने अपने समय में शताधिक अनुसंधानपरक तथा कुछ न कुछ नये तथ्यों से युक्त निबंध लिखे, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुए। 'अनेकान्त' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका के तो वे सम्पादक और प्रतिष्ठापक ही नहीं, अपितु प्राण थे। इसमें आपके सम्पादकीय के अतिरिक्त शोधपरक निबन्ध, ग्रन्थ-समीक्षायें तथा शोधात्मक टिप्पणियाँ भी नियमित प्रकाशित होती थीं। अनेकान्त पत्रिका का अपने समय में जैन धर्म, साहित्य और संस्कृति के विकास में जो योगदान रहा है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। इसके पुराने अंक देखने पर इन तथ्यों की यथार्थता अपने आप सामने आ जाती है।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आपके द्वारा लिखित अनुसंधानपरक एवं समसामयिक निबन्धों का संग्रह 'युगवीर निबन्धावली' नाम से दो खण्डों में प्रकाशित है जिसमें समाज-सुधारात्मक एवं गवेषणात्मक निबन्ध हैं। प्रथम खण्ड में 41 और द्वितीय खण्ड में 65 निबन्धों का संकलन है। इन निबन्धों में इनके लेखनकाल के सामाजिक, साहित्यिक एवं प्रवृत्तिमूलक इतिहास की झलक देखने को मिलती है। इस निबंधावली के द्वितीय खण्ड में उत्तरात्मक, समालोचनात्मक, परिचयात्मक, विनोद-शिक्षात्मक एवं प्रकीर्णक – इन विषयों के जिन 65 निबन्धों का संकलन है, उनमें प्रकीर्णक निबन्धों के अन्तर्गत 12 निबन्ध हैं जो प्रायः सामाजिक, शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक मतभेदों के शमन हेतु 'समाधान' रूप में लिखे गये हैं।

प्रकीर्णक निबन्धों में आरम्भिक तीन निबंध इनके समय में बड़े चर्चित विषयों से सम्बन्धित हैं। इनमें प्रथम है 'क्या मुनि कन्दमूल खा सकते हैं?' वस्तुतः हमारे आगमों में श्रावक और श्रमणों के आचार-विचार सम्बन्धी विषयों का स्पष्ट विवेचन मिलता है; किन्तु समय-समय पर उनका पूर्वापर-सम्बन्धरहित अर्थ एवं उस शब्दावली, आशय और परिवेश को समझे बिना अर्थ किया जाता

है तो उसका अनर्थ होना अनिवार्य होता है। किन्तु उस अनर्थ को दूर करने का कार्य भी विवेकी और सिद्धान्तनिष्ठ विद्वान् करते रहे हैं। यही कार्य मुख्तारजी ने किया है। आ. वट्टकेर-कृत मूलाचार के नवम 'अनगार-भावनाधिकार' में उन कंदमूलफलों की प्रासुकता-अप्रासुकता पर विचार किया गया है, जो मुनियों के भक्ष्य-अभक्ष्य से संबंधित हैं। वे गाथायें हैं –

फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं ण वि य पडिच्छंति ते धीरा।। 9/59।।

अर्थात् फलानि कंदमूलानि वीजानि चाग्निपक्वानि न भवंति यानि अन्यदपि आमकं यत्किंचिदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छन्ति ते धीरा इति। दूसरी गाथा है –

जं हवदि अणिव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति।। 9/60।।

अर्थात् यद् भवति अबीजं निर्बीजं निर्वर्त्तिमं निर्गतमध्यसारं प्रासुकं कृतं चैव ज्ञात्वाऽशनीयं तद् भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छन्ति, अर्थात् जो बीजरहित है, जिनका मध्यसार निकल गया है – जो प्रासुक किये गये हैं, ऐसे सब खाने के पदार्थों को भक्ष्य समझकर मुनि भिक्षा में ग्रहण करते हैं।

यद्यपि सुधारवादी माने जाने वाले आ. मुख्तार जी ने इन गाथाओं का अपने लेखों में जो आशय व्यक्त किया है, उस पर आज भी मतभेद हैं; उनका इस संबंध में यह आशय है कि "जैन मुनि कच्चे कंद नहीं खाते परन्तु अग्नि में पकाकर शाक भाजी आदि रूप में प्रस्तुत किये गये कंदमूल खा सकते हैं।" दूसरी गाथा का उनके अनुसार यह आशय है कि "प्रासुक किये हुए पदार्थों को भी भोजन में ग्रहण कर लेने का उनके लिए विधान किया गया है।" अन्त में मुख्तार जी ने कहा है कि "इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि मुनि अग्नि द्वारा पके हुए शाक-भाजी आदि रूप में प्रस्तुत किये हुए कंदमूल खा सकते हैं। हाँ, कच्चे कंदमूल वे नहीं खा सकते।" ये मुख्तार जी के अपने व्यक्तिगत विचार हैं जिन्हें उन्होंने मूलाचार की उक्त गाथाओं से ग्रहण किया था। किन्तु अभी भी यह विचारणीय है क्योंकि जहाँ श्रावक भी आरम्भिक अवस्था में इनका पूर्णतः त्याग कर देता है, वहाँ मुनि को वह आहार में उन्हें कैसे दे सकता है और मुनि कैसे उन्हें ग्रहण कर सकता है?

दूसरे निबंध 'क्या सभी कंदमूल अनंतकाय होते हैं?' में मुख्तारजी ने अदरक, गाजर, मूली, आलू आदि जमीकंद के विषय में विचार-विमर्श करके अन्त

में कहा है कि विद्वान लोग कन्दमूलादि की जाँच करें और फिर उसके नतीजे सूचित करें।

तीसरा लेख 'अस्पृश्यता निवारक आंदोलन' शीर्षक से है। यह निबन्ध मुख्तार जी ने सन् 1921 में लिखा था, जो बम्बई से प्रकाशित 'जैन हितैषी' पत्रिका के जुलाई 1921 के अंक में प्रकाशित हुआ था। इस लेख की प्रेरणा लेखक को उस समय महात्मा गाँधी द्वारा चलाये जा रहे अस्पृश्यता विरोधी आन्दोलन से प्राप्त हुई थी। इसमें मुख्तार जी ने जैन धर्म की दृष्टि से अस्पृश्यता और स्पृश्यता पर विचार करके कहा था कि अछूतों पर अर्से से बहुत बड़े अन्याय और अत्याचार हो रहे हैं और इसलिए हमें अब उन सबका प्रायश्चित ज़रूर करना होगा।

चतुर्थ लेख 'देवगढ़ के मंदिर मूर्तियों की दुर्दशा' से सम्बन्धित है, जो दिसम्बर 1930 के 'अनेकान्त' में प्रकाशित हुआ था। यह मुख्तारजी के निजी अनुभव पर आधारित है। यद्यपि बाद में तो इस तीर्थ की व्यवस्था और सुरक्षा में काफी सुधार आया किन्तु स्वतंत्रता के पूर्व देवों के गढ़ रूप देवगढ़ – सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध इस जैन तीर्थ की दुर्दशा भी उन्होंने इस लेख में वर्णित की है। उन्होंने उस दुर्दशा का वर्णन दुःखी हृदय से करते हुए लिखा है कि इन करुण दृश्यों तथा अपमानित पूजा स्थानों को देखकर और अतीत गौरव का स्मरण करके हृदय में बार-बार दुःख की लहरें उठती थीं, रोना आता था, और उस दुःख से भरे हुए हृदय को लेकर ही मैं पर्वत से नीचे उतरा था।

पंचम निबंध 'ऊँच-गोत्र का व्यवहार कहाँ?' है जो षट्खण्डागम के 'वेदना' नामक चतुर्थ खण्ड के चौबीस अधिकारों में से पाँचवें 'पयडि' अधिकार पर आधारित है। यह लेख नवम्बर 1938 के अनेकान्त में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने इसमें उच्च गोत्र से संबंधित अनेक प्रश्न उपस्थित किये हैं।

छठा निबंध 'महत्त्व की प्रश्नोत्तरी' शीर्षक से है। यह प्रश्नोत्तरी महाराजा अमोघवर्षकृत 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' के आधार पर नये ढंग से संकलित की गई है। इसके कुछ प्रश्न और उनके उत्तर द्रष्टव्य हैं : 1. प्रश्न- संसार में सार क्या है? उत्तर- मनुष्य होकर तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना और स्व-पर के हितसाधन में सदा उद्यमी रहना। 2. प्रश्न- अन्धा कौन है? उत्तर- जो न करने योग्य कार्य के करने में लीन है। 3. प्रश्न- बहरा कौन है? उत्तर- जो हित की बातें नहीं सुनता।

4. प्रश्न- नरक क्या है? उत्तर- पराधीनता का नाम नरक है।

सप्तम निबंध 'जैन कॉलोनी और मेरा विचार पत्र' शीर्षक से है, जिसमें इन्होंने सेवा की भावना से अच्छे नैतिक संस्कारों के विकास हेतु जैन कॉलोनी बसाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया, ताकि जैन जीवन-शैली के जीते-जागते उदाहरण एकत्रित होकर तदनुसार विकास करें।

अष्टम निबंध 'समाज में साहित्यिक सद्रुचि का अभाव' शीर्षक से संकलित है, जिसमें जैन समाज में पूजा-प्रतिष्ठाओं, मंदिर-मूर्ति निर्माण और अन्यान्य प्रदर्शनों के प्रति अतिशय जागरूकता, और नष्ट हो रहे शास्त्रों, साहित्य के नवनिर्माण, प्रकाशन-उद्धार आदि के प्रति अरुचि को देखकर मुख्तार जी ने अपनी वेदना प्रकट की और जैन साहित्य के उद्धार, उन्नति और प्रचार-प्रसार के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

नवम 'समयसार का अध्ययन और प्रवचन' शीर्षक का निबन्ध है। यह मई 1953 में अनेकान्त में प्रकाशित हुआ था। इसमें आपने समयसार की बिना गहराई समझे, इसके प्रवचन करना और अपने प्रवचन छपवा लेने आदि की प्रवृत्ति की आलोचना की है।

दशम 'भवाऽभिनन्दी मुनि और मुनि निंदा' नामक निबंध में लेखक ने संसार के कार्यों आदि के प्रति रुचि रखने वाले तथा इनका अभिनन्दन करने वाले मुनियों की निन्दा करने वालों को 'मुनि निन्दक' करके लांछित करने वाले लोगों पर टिप्पणी की है। वस्तुतः मुनिधर्म का मुख्य उद्देश्य आत्मकल्याण करना है, न कि सांसारिक कार्यों में रुचि और उत्साह। मुख्तारजी ने अपने इस विस्तृत निबंध में सच्चे मुनियों के स्वरूप और समाज की जिम्मेदारी आदि का अच्छा विश्लेषण किया है। समाज की मति आज भी इसी तरह की बनी हुई है।

ग्यारहवें 'न्यायोचित विचारों का अभिनंदन' निबंध में लेखक ने 'श्रमण' (अंक 4) में प्रकाशित मुनि न्यायविजयजी की 'नम्र विज्ञप्ति' को पढ़कर उसकी प्रशंसा करके जैन धर्म और संस्कृति के गौरव के प्रसार के उपायों की चर्चा की है।

बारहवें और अन्तिम 'एक अनुभव' निबंध में आपने जैनसंदेश पत्रिका में श्री रामजी भाई माणिकचंद दोशी, सोनगढ़ के प्रकाशित निबंध 'प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना' की समालोचना की है।

इस तरह 'युगवीर निबंधावली' में संकलित ये प्रकीर्णक लेख जैनधर्म, संस्कृति, साहित्य और समाज के स्वरूप को उच्चतम बनाये रखने में पथप्रदर्शन तो करते ही हैं, प्रेरणा और दीपस्तम्भ का कार्य भी करते हैं। अतः इनका अध्ययन-मनन वर्तमान सन्दर्भो में आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अच्छा तो यह होगा कि मात्र इन्हीं निबंधों को अलग से पुस्तकाकार प्रकाशित करके पाठकों को उपलब्ध कराया जाए।

आचार्य एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग
सं. सं. वि. वि., वाराणसी

परमपूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शान्तिसागर जी महाराज का प्रेरक व्यक्तित्व और रचनात्मक कृतित्व

– 'जैन विद्यावारिधि' सुमत प्रसाद जैन, एम्. ए.

विदेशी आक्रमणों, केन्द्रीय सत्ता के अभाव और विभिन्न राज्यों में शासकों की धर्मान्धता के कारण लुप्तप्रायः दिगम्बर जैन साधुओं की परम्परा को नया जीवन प्रदान करने में परमपूज्य चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शान्तिसागर जी महाराज का विशेष योगदान है। आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज की दृष्टि में - "दिगम्बर जैन समाज में संयम के नवप्रभात के आप ही सर्वप्रमुख सूत्रधार थे। आपने ही आधुनिक युग में भगवान् महावीर के धर्म को प्रचारित तथा प्रसारित करने में और जैन संस्कृति की सुरक्षा में अभिनन्दनीय कार्य किया है।"

आचार्यश्री जैन संस्कृति के सजग प्रहरी रहे हैं। पट्खण्डागम के सूत्रों में से चार-पांच हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ नष्ट हो गया है - यह जानकर श्रुत संरक्षण के लिए परमपूज्य श्री धरसेनाचार्य की भांति ही वे चिन्तित हो गए। रात्रि में आचार्यश्री विचार करते रहे कि भगवान् महावीर की वाणी इन सूत्रों में निबद्ध थी। चार-पांच हजार श्लोक नष्ट हो गए, शेष की रक्षा किस प्रकार की जाए? दूसरे दिन ही आपने श्रावकों से कहा, हमारे मन में ऐसी इच्छा होती है कि सिद्धान्त ग्रन्थों के संरक्षण के लिए उन्हें ताम्रपत्रों पर खुदवाया जाए। संघपति ने कहा – "महाराज, यह काम मैं कर दूंगा।" आचार्यश्री ने कहा – "यह कार्य सबकी तरफ से होना चाहिए।" यह कहकर महाराजश्री सामायिक पर चले गए। उनकी अनुपस्थिति में श्रद्धालु श्रावकों ने डेढ़ लाख का फंड एकत्र कर दिया। इस प्रकार से ताड़पत्रीय पट्खण्डागम की प्रति को ताम्रपत्रों पर सदा-सदा के लिए सुरक्षित कर दिया गया।

धर्म, साहित्य और संस्कृति की सेवा में आचार्यश्री ने स्वयं को समर्पित कर दिया। उनके महान् अवदान को दृष्टिगत करते हुए राष्ट्रीय कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने एक अवसर पर सत्य ही कहा था – "जैन लोग सोचते हैं कि

आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज हमारे हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। आचार्य महाराज सबके हैं। उनके चरणों पर जैनों का जितना अधिकार है, उतना ही हमारा भी अधिकार है। वे तो विश्व की विभूति हैं।''

अनासक्त कर्मयोगी आचार्य श्री शान्तिसागर जी ने जीवन की अंतिम संध्या में सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरि में 14 अगस्त 1955 को 'यम सल्लेखना' (समाधि) का महान् संकल्प लिया था। 18 सितम्बर 1955 को परमपूज्य आचार्यश्री ने जैन धर्म ग्रन्थों में निहित साधु की चर्या का निर्दोष पालन करते हुए समाधिपूर्वक यह नश्वर शरीर त्याग दिया। भारत सरकार के उपराष्ट्रपति तथा सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा. एस. राधाकृष्णन के अनुसार आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज भारत की आत्मा के प्रतीक थे।

परमवन्दनीय जगद्गुरु

परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के निजाम राज्य में आलन्द नामक स्थान पर पधारने की घटना का विवरण प्रस्तुत करते हुए उनके प्रिय शिष्य आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के मुखारविन्द से सरस्वती इस प्रकार प्रस्फुटित हुई – उनकी वाणी में कितनी मिठास, कितना युक्तिवाद और कितनी गम्भीरता थी, यह हम नहीं कह सकते। उनका उपदेश वहां के मुस्लिम जिलाधीश के समक्ष हुआ। उस उपदेश को सुनकर वह अधिकारी और उनके सहकारी मुस्लिम कर्मचारी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने महाराज को साष्टांग प्रणाम किया और बोले, महाराज जैनों के ही गुरु नहीं हैं, ये तो जगत के गुरु हैं, हमारे भी गुरु हैं। उस अवसर पर महाराज जी ने समयानुकूल देव, शास्त्र और गुरु के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा ''जो हमारे ध्येय को पूरा करे वही देव है। जितने ध्येय हैं उतने-उतने देव मानने पड़ेंगे और उनकी पूजा करनी पड़ेगी। पूजा का स्वरूप लोगों ने समझा नहीं, पूजा का अर्थ योग्य सम्मान है।''

सभा में उपस्थित जन समुदाय का मार्गदर्शन करते हुए आचार्यश्री ने कहा ''गुरु को तीन बातें ग्रहण करनी चाहिए और तीन बातें छोड़ देनी चाहिएं। गुरु को ज्ञान में, ध्यान में और तप में संलग्न रहना चाहिए। उसे विषयों को छोड़ना चाहिए, आराम को छोड़ना चाहिए, और परिग्रह को त्यागना चाहिए।''

''जिसमें पूर्वापर विरोध नहीं है, वही शास्त्र है, जो शुरु से आज तक एक समान है।''

जैन समाज की विशेषताएं

परमपूज्य वीरसागर जी महाराज ने इस अवसर पर प्रसंगवश अपने विचार प्रकट करते हुए कहा – "मांगने वाला जैन नहीं, और जैन मांगने वाला नहीं है। जैन नौकर नहीं है, और नौकर जैन नहीं है। नौकर की दृष्टि वेतन पर होती है, काम पर नहीं होती। जैन की दृष्टि कार्य पर होती है, वेतन पर नहीं।" जैन समुदाय की गौरवपूर्ण स्थिति का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि "सम्वत् 1956 (सन् 1899) में भयंकर दुष्काल आया था, उस समय सबने सरकार का माल खाकर अपने प्राणों की रक्षा की, किन्तु उसमें जैनों का नाम नहीं था।"

"जिसकी पूजा हो, उसे नमस्कार हो, न भी हो। नमस्कार के साथ देवपने का अविनाभाव नहीं है। जो दूसरों को तिरस्कार की दृष्टि से देखे, वह जैन नहीं। सम्यक्त्वी की पहिचान मुख पर है। जिसके मुख पर ग्लानि है, वह सम्यक्त्वी नहीं है। वह वात्सल्यांग नहीं रखता है। एक उदाहरण देकर आपने समझाया "वात्सल्य के लिए गाय को क्या कुतिया को देखो। बच्चे काटते हैं, तो भी कुतिया उनको पकड़-पकड़ कर दूध पिलाती है।"

आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने आत्मकल्याण एवं दिगम्बर जैन धर्म की प्रभावना के लिए कर्नाटक स्थित उत्तूर ग्राम में सन् 1915 में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। आत्मसाधना के विकास में अनेक कीर्तिमानों को स्थापित करते हुए आपने (सन् 1920) कर्नाटक स्थित अकलूज नामक ग्राम में मुनि दीक्षा ग्रहण की। आपकी अद्भुत धर्म प्रभावना, तपस्या और उपसर्ग-सहन की शक्ति को देखकर भारतवर्ष की जैन समाज ने श्रद्धापूर्वक आपको समडोली चातुर्मास सन् 1924 में आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया। आपने सन् 1915 से 1955 तक एक गतिशील धर्मचक्रवर्ती की तरह लगभग 40 वर्ष तक भारतवर्ष के एक बड़े भू-भाग की (लगभग 40 हजार मील की) पैदल यात्रा की। आचार्यश्री का धर्मयात्रा में करोड़ों व्यक्तियों से सम्पर्क हुआ। आचार्यश्री के सम्पर्क में आने वाले महानुभाव आपके भव्य एवं दिव्य परिवेश को देखकर अपने मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए अनेक नियम स्वेच्छा से ग्रहण कर लेते थे। आचार्यश्री से प्रेरणा पाकर लाखों-लाखों महानुभावों ने मांस, मदिरा, अभक्ष्य, अनछना पानी एवं रात्रि भोजन का त्याग कर दिया। जीवन के कल्याण के निमित्त अनेक महानुभावों ने सप्त व्यसन के त्याग का भी नियम लिया।

जन साधारण के अतिरिक्त विभिन्न रियासतों के शासक, मन्त्री, प्रमुख अधिकारी,

ब्रिटिश राज्य के सरकारी पदों पर नियुक्त प्रशासनाधिकारी भी आपसे मार्ग-दर्शन प्राप्त कर अनेक प्रकार के व्रत एवं नियम स्वेच्छा से ग्रहण करते थे।

आचार्यश्री के सन् 1927 के चातुर्मास में सांगली दरबार और सांगली से मिरज पधारने पर श्रीमंत सरकार बाला साहेब स्वयं आचार्यश्री के दर्शन के लिए पधारे। श्रावकों ने धर्म सभा में महाराज साहब के लिए सिंहासन लगाना चाहा। परन्तु इसके पहले ही विचारशील नरेश ने उनसे कह दिया कि मैं संसार-त्यागी, तपस्वी महात्माओं के सामने सिंहासन पर नहीं बैठूंगा। सब लोगों के साथ जमीन पर बैठूंगा। महाराज साहब ने सभा में खड़े होकर आचार्यश्री से प्रसाद मांगा तो आचार्यश्री ने सस्मित कहा – "आप पूर्वसंचित पुण्योदय से नरपति हुए हैं। आपके शासन में स्वार्थान्ध एवं अज्ञानी लोगों की दुर्वासना से, विचरने वाले निरपराध जीव कभी सताए नहीं जायें और न्यायपूर्ण आपका शासन बना रहे – यही हमारा प्रसाद है।" महाराजा महोदय के आग्रह पर आपने उन्हें एक ग्रंथ भी भेंट किया। महाराजा ने आदरपूर्वक ग्रंथ ग्रहण किया और ग्रन्थ के स्वाध्याय का नियम लिया। इसी प्रकार की अनेक घटनाएं समय-समय पर घटती रहीं। एक दो घटनाओं का उल्लेख तत्कालीन भारतवर्ष की परिस्थितियों को समझने के लिए प्रस्तुत है –

ब्यावर चातुर्मास सन् 1933 की समाप्ति पर संघ अजमेर, महकमपुरा आदि होते हुए शाहपुरा आया। अजैनों ने संघ के विहार पर पाबन्दी का हुक्म ले लिया। इसी प्रकार का संकट 1926 में इस्लामपुर में भी आया था। आचार्यश्री ने आहार का त्याग कर दिया और णमोकार मन्त्र की शरण ले ली। राय बहादुर टीकमचंद ने अफसरों से मिलकर और वस्तुस्थिति की जानकारी देकर इस आदेश को रद्द करवाया। संघ यहां से विहार कर पाटोली, कटड़ी, चुलेसरा, भीलवाड़ा, हमीरगढ़, चित्तौड़ होकर प्रतापगढ़ पहुंचा। पूज्य आचार्यश्री के उपदेश से प्रभावित होकर संघपति सेठ पूनमचन्द जी घासीलाल जी ने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव कराने का निश्चय किया। दीक्षा कल्याणक के अवसर पर संघपति ने एक लाख रुपए के दान की घोषणा की जिसके ब्याज की राशि से विधवाओं के आश्रम एवं जीर्णोद्धार की व्यवस्था की गई। आचार्य महाराज की धर्मसभाओं एवं धार्मिक महोत्सवों के माध्यम से इसी प्रकार शताधिक विद्यालयों, गुरुकुल, छात्रावास, बाल आश्रम, विधवाश्रम एवं अस्पतालों का निर्माण हुआ है। दानवीर सर सेठ हुकमचंद जैन (इन्दौर), सेठ चैनसुखदास जी पाण्डया आदि इस अवसर पर प्रतापगढ़ के नरेश से मिले। जिसके

परिणामस्वरूप राज्य में फाल्गुन शुक्ला 8 और 14 को जीव हिंसाबंदी की घोषणा महाराज ने अपने राज्य में करा दी।

यहां से विहार कर संघ धरियाबाद पहुंचा। राज्य की ओर से स्वागत किया गया। यहां के नरेश श्री रावजी खुमानसिंह जी बहादुर ने प्रत्येक कृष्णा 8 और शुक्ला 14 को कोई शिकार न खेल सकेगा – ऐसा आदेश जारी किया और स्वयं आजन्म शिकार खेलने का त्याग किया। तथा दशहरे पर होने वाली हिंसा सदा के लिए बंद कर दी। रनिवास में आचार्यश्री के उपदेश से रावजी की माताजी एवं धर्मपत्नी ने पर्व के दिनों में मांस खाने का त्याग किया। और स्थानीय नदी के गजघाट पर मछली मारना बन्द करने का शिलालेख लगवा दिया। सहस्रों भीलों ने मद्य मांस का त्याग किया। फिर खमेरा नरवीरा, पारसौला सावला, जांबूड़ा कुरावली, गीगला, कुरावड़ आदि होता हुआ संघ आषाढ़ सुदी 1 को उदयपुर पहुंचा।

आचार्यश्री का पशु-पक्षी प्रेम

करुणामूर्ति आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज का पशु-पक्षी जगत् के लिए सदैव से ही करुणा भाव रहा है। तिर्यंच जाति के जीव यथा - पशु, पक्षी, सर्प, चींटियां आदि भी आपके निर्वेगभाव, वैचारिक सादगी एवं वात्सल्य भाव से अभिभूत होकर उनके प्रति नतमस्तक हो जाती थीं। भोज ग्राम में आचार्यश्री का पशु-पक्षी प्रेम घर-घर में चर्चा का विषय बना हुआ था। आचार्यश्री का गुण-संकीर्तन करते हुए उनके निकट के खेत में मजदूरी का काम करने वाले 80 वर्षीय मराठा किसान श्री गुण ज्योति दमाले ने पत्रकारों को बताया था – "हम जिस खेत में काम करते थे उससे लगा हुआ महाराज का खेत था। हम उनको पाटिल कहते थे। हमारा उनसे निकट परिचय था। उनकी बोली बड़ी प्यारी लगती थी। मैं गरीब हूं और वे श्रीमान् हैं, इस प्रकार का अहंकार उनमें नहीं था। हमारे खेत में अनाज खाने को सैकड़ों-हजारों पक्षी आ जाते थे, मैं उनको उड़ाता था तो वे उनके खेत में बैठ जाते थे। वे उन पक्षियों को उड़ाते नहीं थे। पक्षियों के झुंड के झुंड उनके खेत में अनाज खाया करते थे।"

एक दिन मैंने कहा कि पाटिल हम अपने खेत के सब पक्षियों को तुम्हारे खेत में भेजेंगे। वे बोले कि तुम भेजो, वे हमारे खेत का सब अनाज खा लेंगे, तो भी कमी नहीं होगी। इसके बाद उन्होंने पक्षियों के पीने का पानी रखने की व्यवस्था खेत में करा दी। पक्षी मस्त होकर अनाज खाते थे और जी भरकर पानी

पीते थे और महाराज चुपचाप यह दृश्य देखते, मानो वह खेत उनका न हो। मैंने कहा कि पाटिल तुम्हारे मन में इन पक्षियों के लिए इतनी दया है, तो झाड़ पर ही पानी क्यों नहीं रख देते हो? उन्होंने कहा कि ऊपर पानी रख देने से पक्षियों को नहीं दिखेगा, इसलिये नीचे रखते हैं। उनको देखकर कभी-कभी मैं कहता था – "तुम ऐसा क्यों करते हो? क्या बड़े साधु बनोगे?" तब वे चुप रहते थे, क्योंकि व्यर्थ की बातें करना उन्हें पसंद नहीं था। कुछ समय के बाद जब पूरी फसल आई, तब उनके खेत में हमारी अपेक्षा अधिक अनाज उत्पन्न हुआ था।

आचार्यश्री के चचेरे भाई श्री भाऊसाहब पाटिल के अनुसार आप सभी के अकारण बन्धु तथा उपकारी थे। वे सभी को धर्म एवं नीति के मार्ग की प्रेरणा देते थे। माता-पिता का समाधिमरण होने से उनके भावों में वैराग्य की वृद्धि हुई। वे दया, शांति, वैराग्य, नीति तथा सत्य जीवन के सिन्धु थे। आपकी प्रतिभा एवं तर्कशैली के सम्मुख बड़े-बड़े वकील, जज, विद्वद्जन सभी हतप्रभ रह जाते थे। उनका दयामय जीवन सभी के लिए प्रेरक था। दीन दुःखी, पशु-पक्षी आदि पर उनकी करुणा की धारा वहती थी। आप एक सुधारवादी सत्याग्रही की भांति जहां-जहां देवी के आगे हजारों बकरे-भैंसे आदि मारे जाते थे, वहां पहुंचकर अपने प्रभावशाली उपदेश द्वारा जीववध को बन्द कराते थे। सन् 1923 के कोन्नूर चातुर्मास में ध्यानस्थ महाराज के शरीर पर एक विषैला सर्प लिपट गया। लगभग दो घण्टे वह सर्प महाराज के शरीर पर क्रीड़ा करता रहा। सर्प के इस प्रकार के उपसर्ग की घटनाएं प्रायः उनके जीवन में घटित होती रहती थीं। क्षुल्लक अवस्था में कागनोली के प्राचीन जिनमन्दिर में एक सर्प उनकी पीठ पर लिपट गया। महाराज के प्रमुख शिष्य श्री नेमिसागर जी द्वारा सुनाई घटना के अनुसार–"एक बार महाराज की गुफा में एक सर्प आया और कई दिन तक वहीं निरन्तर वास करता रहा। जब महाराज एकान्त में समाधिस्थ बैठ जाते थे, तब वह सर्प उनकी परिक्रमा करता रहता। समाधि का समय समाप्त होने पर और श्रावकों के दर्शन हेतु आने पर वह महाराज के चरणों के बीच दुबककर छिप जाता। इस प्रकार कई दिन हुआ। बाद में एक दिन वह सर्प वहां से चला गया।"

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के संदर्भ में गांधी जी के आविर्भाव से पूर्व ही सामाजिक कुरीतियों के निवारण एवं धार्मिक आयोजनों में पशुओं पर क्रूरता के विरुद्ध उन्होंने शंखनाद करके सत्याग्रह की बुनियाद रखी। दक्षिण भारत के श्रावकों

पर उन्होंने अद्भुत कृपा की। धर्म के नाम पर बलिपरक आयोजनों को करने वाले महानुभावों के हृदय परिवर्तन हेतु उन्होंने प्रतिज्ञा ली—"जो जीव हिंसा का त्याग करेगा, मिथ्यात्व का त्याग करेगा और पुनर्विवाह का त्याग करेगा, हम उसके हाथ का ही आहार लेंगे।"

छिपरी गांव का पाटिल धार्मिक आयोजनों में बलिदान प्रथा से मोह नहीं छोड़ पा रहा था। उस समय महाराज ने प्रतिज्ञा की थी जब तक पाटिल नियम ग्रहण नहीं करेगा, तब तक मेरे अन्न जल का त्याग है। प्रारम्भ में पाटिल पर महाराज के संकल्प का असर नहीं हुआ। समय व्यतीत होता गया। गांव में पाटिल के विरुद्ध भारी जन आक्रोश जाग गया। वह कोल्हापुर को पलायन कर गया। आचार्य महाराज की नियम में अटूट निष्ठा को देखकर गांव के निवासी कोल्हापुर से पाटिल को पकड़कर लाए। पाटिल का हृदय महाराज के त्याग को देखकर द्रवीभूत हो उठा। उसने क्षमायाचना के साथ नियम ग्रहण किए। तदुपरान्त महाराज आहार के लिए उठे। सारे गांव में हर्ष छा गया।

आचार्य वीरसागर जी महाराज के अनुसार सिद्धक्षेत्र श्री सम्मेदशिखर जी की वन्दना के दौरान एक अवसर पर लोकोत्तर सिद्धियों के धनी आचार्य श्री शान्तिसागर जी को सौ-डेढ़ सौ बैलों का झुंड मिला। उनमें से चार मस्त बैल वेगवान गति से आचार्यश्री की तरफ आए और उनकी तरफ मुंह करके उन्हें प्रणाम किया। प्रत्यक्षदर्शियों की आंखों में पानी आ गया। लोग कहने लगे—"इन जानवरों को इतना ज्ञान है कि साधुराज को प्रणाम करते हैं और मनुष्यों की इससे विपरीत अवस्था है। इसी प्रकार शिखरजी की तीर्थ वंदना से लौटते हुए महाराज का संघ सन् 1928 में विंध्यप्रदेश में आया। विंध्याटवी का भीषण वन चारों ओर था। एक जगह संघ पहुंचा, वहां ही आहार बनाने का समय हो गया। श्रावक लोग चिन्ता में थे कि इस जगह वानरों की सेना का स्वच्छन्द शासन तथा संचार है, ऐसी जगह किस प्रकार भोजन तैयार होगा और किस प्रकार इन साधुराज की शास्त्रानुसार आहार की विधि संपन्न होगी? उस स्थान से आगे चौदह मील तक ठहरने योग्य जगह नहीं थी। संघपति सेठ गेंदनमलजी जवेरी आचार्यश्री के समीप पहुंचे और कहा—"महाराज ! यहां तो बंदरों का बड़ा कष्ट है हम लोग किस प्रकार आहारादि की व्यवस्था करेंगे।"

महाराज बोले—"तुम लोग शीरा पूड़ी उड़ाते हो। बंदरों को भी शीरा पूड़ी खिलाओ।" इसके बाद वे चुप हो गए। उनके मुखमंडल पर स्मित की आभा थी। वहां संघ के श्रावकों ने कठिनता से रसोई तैयार की; किन्तु डर था कि महाराज के हाथ से ही बंदर ग्रास लेकर न भागें, तब तो अंतराय आ जायेगा। इस स्थिति

में क्या किया जाये? लोग चिंतित थे। आहारचर्या का समय आया। शुद्धि के पश्चात् आचार्य महाराज जैसे ही चर्या के लिए निकले कि सैकड़ों बंदर स्वयमेव अत्यन्त शान्त हो गए और चुप होकर महाराज की चर्या की सारी विधि देखते रहे। बिना विघ्न के महाराज का आहार हो गया। ततूपश्चात् वंदरों का उत्पात आरंभ हो गया और श्रावक-श्राविकाएं वन्दरों को खाद्य पदार्थ देते रहे और स्वयं भी भोजन करते रहे।

वस्तुस्थिति यह है कि आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज के अंतरंग में निर्मलता सदैव विद्यमान रहती थी। इसीलिए जगंल का राजा शेर, कालकूट कराल विष का स्वामी नागराज एवं अन्य हिंसक पशु भी उनके दर्शन से अनुग्रहीत होकर निर्मल भाव ग्रहण कर लिया करते थे।

आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज को कथा साहित्य एवं प्रथमानुयोग के धर्म ग्रन्थों के प्रति विशेष लगाव रहा है। जनसाधारण में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा और धर्म का स्थायी भाव विकसित करने के लिए वह प्रायः कथा-साहित्य एवं सारगर्भित उपमाओं का बहुलता से प्रयोग करते थे। कथा के माध्यम से जीवन की दिशा को वदल देने का एक उदाहरण इस प्रकार है।

आचार्य महाराज बड़वानी की वंदनार्थ विहार कर रहे थे, साथ में तीन सम्पन्न गुरुभक्त तरुण भी थे। वे वहुत विनोदशील थे। उन तीनों को विनोद में तत्पर देखकर आचार्यश्री ने एक शिक्षाप्रद कथा कही :

एक वड़ी नदी थी। उसमें नाव चलती थी। उस नौका में एक ऊंट सवार हो गया। एक तमाशेवाले का बन्दर भी उसमें वैठा था। इतने में एक वनिया अपने पुत्र सहित नाव में वैठने को आया। चतुर धीवर ने कहा–"इस समय नौका में तुम्हारे लड़के को स्थान नहीं दे सकते। यह वालक उपद्रव कर वैठेगा, तो गड़वड़ी हो जायेगी।"

व्यापारी ने मल्लाह को समझा-बुझाकर नाव में स्थान जमा लिया। नौका चलने लगी। कुछ देर के वाद बालक का विनोदी मन न माना। उसने वंदर को एक लकड़ी से छेड़ दिया। चंचल बंदर उछलकर ऊंट की गर्दन पर चढ़ गया। ऊंट के घवड़ाने से नौका उलट पड़ी और सबके सब नदी में गिर पड़े। ऐसी ही दशा बिना विचारकर प्रवृत्ति करने वालों की होती है। अधिक गप्पों में और विनोद में लगोगे तो उक्त कथा के समान कष्ट होगा। गुरुदेव का भाव यह था कि जीवन को विनोद में ही व्यतीत मत करो। जीवन का लक्ष्य उच्च और उज्ज्वल कार्य करना है।

आचार्यश्री ने अपने वाग्वैभव एवं एक कथानक द्वारा श्रावकरत्न श्री नेमिसागर

को गृहस्थावस्था त्याग कर दिगम्बर मुनि बनने को विवश कर दिया था। घटना इस प्रकार है –

श्रावकरत्न श्री नेमिसागर जी अपनी गृहस्थ अवस्था एवं व्यस्त व्यापारिक जीवन में भी आचार्यश्री की प्रेरणा से अनेक नियमों का पालन करते थे। उनका विश्वास था कि हमारी भक्ति एवं वैराग्य की भावना निश्चित रूप से हमें संसार से पार लगाएगी। किन्तु आचार्य महाराज ने दयावश एक ही कथा द्वारा उनका उद्धार कर दिया। महाराज ने नेमिसागर जी से कहा–"तुम्हारा यह भक्ति-वैराग्य हाथी स्नान जैसा है।" महाराज के उपदेश का अर्थ यह था–"हाथी को जब नहलाया जाता है, तो उसमें शरीर पर का मैल आसानी से छूटता नहीं। महावत ईट से रगड़-रगड़कर उसके मोटे चमड़े को धोता है, तब कहीं जाकर मैल उतर पाता है। परन्तु इतनी कठिनाई एवं परिश्रम से हाथी को नहलाने का लाभ ही क्या? किनारे पर चढ़ते ही वह मिट्टी उठा अपने मस्तक पर तथा सारे शरीर पर डाल लेता है और थोड़े समय में मैला का मैला हो जाता है।

परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर जी ने 83 वर्ष की आयु में पर्वराज पर्यूषण के अवसर पर पंचोपवास मौनपूर्वक किए थे। भाद्रपद में पूरे माह दूध का भी त्याग था। पंचरस छोड़े चालीस वर्ष हो गए थे। आचार्यश्री के अनन्य भक्त श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर जी ने सहज भाव से आचार्यश्री के सम्मुख जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा–"महाराज! घोर तपस्या करने का क्या कारण है?"

आचार्यश्री का उत्तर श्रमण संस्कृति एवं सभ्यता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है–"हम समाधिमरण की तैयारी कर रहे हैं। सहसा आंख की ज्योति चली गई तो हमें उसी समय समाधि की तैयारी करनी पड़ेगी। कारण, उस स्थिति में समिति नहीं बनेगी। अतः जीवरक्षा का कार्य नहीं बनेगा। हम तप उतना ही करते हैं जितने में मन की शान्ति बनी रहे।"

उपवासों की उपयोगिता को रेखांकित करते हुए आचार्यश्री ने कहा "उपवास करने पर शरीर का पता नहीं चलता। जब शरीर की सुधि नहीं रहती है, तो रुपया-पैसा, बाल-बच्चों की भी चिन्ता नहीं सताती है। उस समय मोहभाव मन्द होता है, आत्मा की शक्ति जाग्रत होती है। अपने शरीर की जब चिन्ता छूटती है तब दूसरों की क्या चिन्ता रहेगी।" इस अवसर पर आपने विषय के स्पष्टीकरण हेतु एक कथा सुनाई – "बन्दर का अपने बच्चे पर अधिक प्रेम रहता है। एक बार एक बंदरिया का बच्चा मर गया, तो वह उस मृत बच्चे को छाती से चिपकाये रही।

उस समय हमने देखा, कुछ बन्दरों ने जबरदस्ती उसके बच्चे को छीनकर नदी में डाल दिया था। बन्दर को पानी में तैरना नहीं आता है। यह हमने प्रत्यक्ष देखा है। इतना प्रेम मृत बालक पर बंदरिया का था।"

दूसरी घटना महाराज ने बताई–"एक समय एक हौज में पानी भरा जा रहा था, एक बंदरिया अपने वच्चे को कन्धे पर रखकर उस हौज में थी। जैसे-जैसे पानी वढ़ता जाता था, वह गर्दन तक पानी आने के पूर्व वच्चे को कंधे पर रखकर वचाती रही; किन्तु जव जल की मात्रा वढ़ गई और स्वयं बंदरिया डूबने लगी, तो उसने बच्चे को पैरों के नीचे दबाया और उस पर खड़ी हो गई, जिससे वह स्वयं न डूवने पावे। इतना ममत्व स्वयं के जीवन पर होता है। उस शरीर के प्रति मोह का भाव उपवास में छूटता है। यह क्या कम लाभ है?"

इन दोनों कथाओं से आप स्वयं यह अनुभव कर सकते हैं कि आचार्यश्री के पास प्रत्यक्ष अनुभूत घटनाओं का पिटारा था। आप अपनी पदयात्राओं में पशु-पक्षियों के दुःख अपने चर्म चक्षुओं से देखते थे और उनके दर्द को अनुभव कर समय-समय पर श्रावक समाज को उपयोगी मन्त्रणा दिया करते थे। भारतवर्ष की वन सम्पदा एवं पशु-पक्षी सम्पदा के केन्द्र मथुरा में आपका सन् 1930 में चातुर्मास हुआ था। आपके संघ के यहां पधारने से पूर्व सूखा पड़ रहा था और लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे। लेकिन संघ के पदार्पण से अच्छी वर्षा हुई और मथुरावासियों ने शान्ति का अनुभव किया। मथुरा से खुरजा और अनेक शहरों में विहार करता हुआ संघ पौष सुदी 10 तदनुसार मंगलवार 30 दिसम्बर 1930 को भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में पधारा। मार्ग में शीत से पीड़ित पशु-पक्षियों की पीड़ा को आपने स्वयं अनुभूत किया। एक धर्माचार्य के रूप में समाज का मार्गदर्शन करते हुए आचार्यश्री ने कहा–"भाई, जीवों की दया पालने से जीव सुखी होता है। दूसरे जीवों को मारकर खाना बड़ा पाप है। इससे ही जीव दुःखी होता है। महाराज के शब्दों का बड़ा प्रभाव होता था। तपश्चर्या से वाणी का प्रभाव बहुत अधिक हो जाता है। पशु-पक्षियों के कष्ट का उल्लेख करते हुए आपकी वाणी द्रवित हो जाती थी। आचार्यश्री के उपेदशामृत से प्रेरित होकर ही दिल्ली की जैन समाज ने विश्वविख्यात लाल किले के सामने श्री दिगम्बर जैन लाल मन्दिर जी में परिन्दों का अस्पताल खोलने का संकल्प लिया।

प्रसंगवश इस अवसर पर यह उल्लेख करना अत्यावश्यक है कि पक्षियों का महाराज के कुटुम्ब से जन्मजात अनुराग रहा है। दिवाकर जी के शब्दों में आपके

ज्येष्ठ भ्राता, कालान्तर में मुनिराज श्री वर्धमान सागर जी महाराज, के पास आकर अनेक पक्षी चुपचाप बैठ जाते थे। चिड़िया भी उनसे नहीं डरती थी। मैंने देखा कि कभी-कभी चिड़िया उनके सिर पर, कंधे पर बैठ जाती थी। मैंने इसका कारण पूछा? महाराज ने कहा–"पक्षी आते हैं, तुम उसे भगा देते हो, वे बेचारे डरकर भाग जाते हैं। हम उनको नहीं भगाते हैं। किसी को कष्ट क्यों दें? इससे वे बेचारे हमारे पास आते, बैठते हैं, उनको डर नहीं लगता है।"

दिल्ली चातुर्मास

परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसार जी महाराज का भारतवर्ष की राजधानी दिल्ली में प्रवेश सकारण था। प्राचीन काल से ही दिल्ली जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है और यहां पर बड़ी संख्या में जैन धर्मायतन विद्यमान हैं। जैन साहित्य के लेखन एवं हस्तलिखित पांडुलपियों की प्रतियां तैयार करने में दिल्ली का विशेष योगदान रहा है। विदेशी आक्रमणों के कारण अनेक जैन धर्मायतन एवं साहित्य की अमूल्य निधियां नष्ट हो गई हैं। धार्मिक कट्टरता के कारण विगत हजार/नौ सौ वर्षों में दिगम्बर जैन साधुओं का यहां पर विचरण बन्द सा हो गया था। आचार्यश्री के दिल्ली चातुर्मास सन् 1931 में भी यहां पर जैनियों की लगभग बीस हजार की संख्या थी और अनेक कलात्मक दिगम्बर जैन मन्दिर विद्यमान थे। दिगम्बर जैन सन्तों के दिल्ली न पधारने की स्थिति में श्रावक समाज चिन्तित रहता था। आचार्यश्री के दिल्ली पधारने से हर्ष की लहर छा गई। राजधानी के योग्य गौरवपूर्ण जुलूस द्वारा आचार्यश्री एवं संघ के लिए भक्ति प्रकट की गई। आचार्यश्री के यहां पधारने पर अनेक तत्त्वजिज्ञासु अंग्रेज अपनी शंका समाधान के लिए महाराज के निकट आए। आचार्यश्री द्वारा अहिंसा एवं सत्य की व्याख्या सुनकर वह गद्गद् हो उठे। एक डिस्ट्रिक्ट जज महोदय ने मुनि श्री चन्द्रसागर जी से बहुत देर तक सूक्ष्म चर्चा की। अपने सन्देहों का निवारण होने पर वह पूज्यश्री को प्रणाम कर चले गए।

दिगम्बर मुनियों के दिल्ली आगमन पर यह डर बना हुआ था कि सरकार वस्तुस्थिति की सही जानकारी के अभाव में संघ के विचरण पर पाबन्दी न लगा दे। आचार्य महाराज, संघस्थ मुनिगण और जैनसमाज धर्म पर सम्भावित संकट की अप्रिय स्थिति का सामना करने को तैयार था। वसन्त पंचमी को आचार्य महाराज का केशलोंच देखने के लिए लगभग सारा नगर ही एकत्र हो गया। दिगम्बर जैन साधुओं की तपश्चर्या जन-जन की जिह्वा का विषय बन गई। आचार्यश्री के दिल्ली

आगमन पर देश में पहली बार लाउडस्पीकर की जानकारी मिली थी। जैनधर्म के आयोजनों में जन-जन के कल्याण एवं नागरिकों की सुविधा के लिए इसका प्रयोग किया गया था। केशलोंच के दूसरे दिन संघ शाहदरा, बड़ौत, जुहोडी, मुलहेड़ा, मेरठ, हस्तिनापुर के लिए विहार कर गया। हस्तिनापुर से खतौली और मुज़फ़्फ़रनगर होते हुए संघ सन् 1931 में चातुर्मास के लिए दिल्ली आ गया।

दिल्ली चातुर्मास में संघ दरियागंज में स्थित था। संघ के साधु आहार के लिए शहर के मुख्य-मुख्य राजपथों से आया-जाया करते थे। दिगम्बर मुनियों के स्वतन्त्र और निर्बाध विचरण के प्रतीक रूप में श्रावकों ने प्रमुख-प्रमुख ऐतिहासिक स्मारकों, लोकप्रिय मस्जिदों, धार्मिक स्थलों और नई दिल्ली के विकासशील चौराहों एवं सरकारी भवनों के आगे संघस्थ साधुओं के चित्र विशेष रूप से बनवाए। बड़े-बड़े राज्याधिकारी, न्यायाधीश आदि महाराज के दर्शन कर अपने को धन्य मानते थे। आश्विन मास में महाराज बैदवाड़ा (मालीवाड़ा) आ गए। पहाड़ी धीरज, सब्जी मण्डी आदि में धर्म प्रभावना करने के उपरान्त संघ ने धर्मपुरा (दरीबा कलां) में कुछ समय निवास किया।

चातुर्मास के समय में श्रावकों के उत्साह की कल्पना आप इस तथ्य से कर सकते हैं कि शहर में साधुओं के आहार की व्यवस्था के लिए 100 चौके नियमित रूप से लगते थे। सभी समारोहों में श्रावक समाज की उपस्थिति उनके अन्तरंग भक्तिभाव की परिचायक थी। चातुर्मास की समाप्ति पर संघ पंचायती मन्दिर धर्मपुरा से विहार कर नई दिल्ली स्थित जयसिंहपुरा के मन्दिर की ओर प्रस्थान कर गया। नई दिल्ली के श्रावकों को अनुग्रहीत कर संघ गुड़गांव एवं रिवाड़ी की तरफ विहार कर गया।

प्रगतिशील एवं समाज सुधारक सन्त

कुंथलगिरि के पर्वराज पर्यूषण पर्व के अवसर पर आचार्यश्री ने जैन धर्म की समाजशास्त्रीय भूमिका के अनुरूप सरकार को परामर्श दिया था कि प्रत्येक गरीब को जिसकी वार्षिक आमदनी 120 रु० हो उसे पांच एकड़ जमीन देनी चाहिए और उसे जीववध न करने का नियम कराना चाहिए। इस उपाय से समाज के पिछड़े वर्ग का उद्धार होगा। आचार्यश्री का जन्म एक कृषक परिवार में हुआ था। अतः महाराजश्री किसानों की समस्याओं से भली-भांति परिचित थे। उनकी मान्यता यह रही है कि केवल जमीन से उद्धार सम्भव नहीं है। पाप से ऊपर उठाने में

आत्मा का उद्धार होता है। जब तक पापवृत्तियों से जीव को दूर कर पुण्य की ओर उसका मन नहीं खींचा जायेगा तब तक उसका कैसे उद्धार होगा?

बाल विवाह प्रतिबन्धक कानून के प्रेरक

'आध्यात्मिक ज्योति' के यशस्वी लेखक धर्मदिवाकर सुमेरुचन्द जी पूज्य आचार्यश्री के निकटस्थ रहे हैं। आचार्यश्री के प्रेरक व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने एक घटना का उल्लेख किया है। प्रस्तुत घटना आचार्यश्री की असाधारण बुद्धिमत्ता, वाग्वैभव एवं कार्यकुशलता का परिचय कराती है। घटना इस प्रकार है –

भारत सरकार के द्वारा बाल-विवाह कानून निर्माण के बहुत समय पहले ही आचार्य महाराज की दृष्टि उस ओर गई थी। उनके ही प्रताप से कोल्हापुर राज्य में सर्वप्रथम बालविवाह-प्रतिबंधक कानून बना था। इसकी मनोरंजक कथा इस प्रकार है। कोल्हापुर के दीवान श्री लट्ठे दिगम्बर जैन भाई थे। लट्ठे की बुद्धिमत्ता की प्रतिष्ठा महाराष्ट्र प्रान्त में व्याप्त थी। कोल्हापुर महाराज उनकी बात को बहुत मानते थे। एक बार कोल्हापुर में शाहुपुरी के मंदिर में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हो रही थी। वहां आचार्यश्री विराजमान थे। दीवान बहादुर श्री लट्ठे प्रतिदिन सायंकाल के समय में महाराज के दर्शनार्थ आया करते थे। एक दिन लट्ठे महाशय ने आकर आचार्यश्री के चरणों को प्रणाम किया। महाराज ने आशीर्वाद देते हुए कहा–"तुमने पूर्व में पुण्य किया है, जिससे तुम इस राज्य के दीवान बने हो और दूसरे राज्यों में तुम्हारी बात का मान है। मेरा तुमसे कोई काम नहीं है। एक बात है, जिसके द्वारा तुम लोगों का कल्याण कर सकते हो। कारण, कोल्हापुर के राजा तुम्हारी बात को नहीं टालते।" दीवान बहादुर लट्ठे ने कहा–"महाराज! मेरे योग्य सेवा सूचित करने की प्रार्थना है।" महाराज–"छोटे-छोटे बच्चों की शादी की अनीति चल रही है। अबोध बालकों-बालिकाओं का विवाह हो जाता है। लड़के के मरने पर बालिका विधवा कहलाने लगती है। उस बालिका का भाग्य फूट जाता है। इससे तुम बाल-विवाह प्रतिबन्धक कानून बनाओ। इससे तुम्हारा जन्म सार्थक हो जायगा। इस काम में तनिक भी देर नहीं हो।" कानून के श्रेष्ठ पंडित दीवान लट्ठे की आत्मा आचार्य महाराज की बात सुनकर अत्यन्त हर्षित हुई। मन ही मन उन्होंने महाराज की उज्ज्वल सूझ की प्रशंसा की। गुरुदेव को उन्होंने यह अभिवचन दिया कि आपकी इच्छानुसार शीघ्र ही कार्य करने का प्रयत्न करूंगा।

दीवान श्री लट्ठे की कार्यकुशलता

गुरुदेव के चरणों को प्रणाम कर लट्ठे साहब महाराज कोल्हापुर के महल में पहुंचे। महाराजा साहब उस समय विश्राम कर रहे थे, फिर भी दीवान का आगमन सुनते ही बाहर आ गए। दीवान साहब ने कहा-"गुरु महाराज बाल-विवाह प्रतिबंधक कानून' बनाने को कह रहे हैं।" राजा ने कहा-"तुम कानून बनाओ। मैं उस पर सही कर दूंगा।" तुरन्त लट्ठे ने कानून का मसौदा तैयार किया। कोल्हापुर राज्य का सरकारी विशेष गजट निकाला गया, जिसमें कानून का मसौदा छपा था। प्रातःकाल उचित समय पर उस मसौदे पर राजा के हस्ताक्षर हो गए। वह कानून बन गया। दोपहर के पश्चात् सरकारी घुड़सवार सुसज्जित हो एक कागज लेकर वहां पहुंचा, जहां आचार्य शांतिसागर महाराज विराजमान थे।

अलौकिक सिद्धियां

आचार्य पायसागर जी अपने गुरु की विशिष्टताओं से मन्त्रमुग्ध थे। आचार्यश्री को आप एक महान् मनोवैज्ञानिक एवं योगी मानते थे। वह अपनी दिव्य दृष्टि से मनुष्य में स्थित प्रसुप्त सामर्थ्य को देख लिया करते थे। जीवन की उलझनों को सुलझाने की उनमें अपूर्व कला थी। उनकी मुद्रा पर वैराग्य का भाव सदा अंकित रहता था। वे साम्यवाद के भण्डार रहे हैं। उनमें अपने भक्तों पर तोष और शत्रु पर रोष नहीं पाया जाता था। समय-समय पर अज्ञानता से ग्रस्त व्यक्तियों ने उन पर एवं संघ के त्यागियों पर सशस्त्र आक्रमण किया। पुलिस के अधिकारियों द्वारा अपराधियों को पकड़ने पर उन्होंने सदैव शान्ति-सिंधु की भांति आततायियों पर अनुकम्पा की और उन्हें सद्मार्ग पर लगा दिया।

संघपति सेठ गेंदनमलजी तथा उनके परिवार का आचार्यश्री के साथ महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है। गुरुचरणों की सेवा का चामत्कारिक प्रसाद, अभ्युदय तथा समृद्धि के रूप में उस परिवार ने अनुभव भी किया है। सेठ गेंदनमल जी ने कहा था-"महाराज का पुण्य बहुत जोरदार रहा है। हम महाराज के साथ हजारों मील फिरे हैं, कभी भी उपद्रव नहीं हुआ है। हम बागड़ प्रान्त में रात भर गाड़ियों में चलते थे, फिर भी कोई विपत्ति नहीं आई। बागड़ प्रान्त के ग्रामीण ऐसे भयंकर रहते हैं कि दस रुपये के लिए भी प्राण लेने में उनको जरा भी हिचकिचाहट या संकोच नहीं होता था। ऐसे अनेक भीषण स्थानों पर हम गए हैं कि जहां से सुख शांतिपूर्वक जाना असम्भव था; किन्तु आचार्य महाराज के पुण्य-प्रताप से कभी भी कष्ट नहीं देखा।

वर्षा का भी अद्भुत तमाशा बहुत बार देखा। हम लोग महाराज के साथ-साथ रहते थे। वर्षा आगे रहती थी, पीछे रहती थी; किन्तु महाराज के साथ में पानी ने कभी कष्ट नहीं दिया। उनकी हर प्रकार की पुण्याई के दर्शन किए थे।"

आचार्यश्री का राजनीति से कोई संबंध नहीं था। समाचार पत्रों में जो समाचार आदि छपा करने थे उसे वे न पढ़ते थे, और न ही सुनते थे। प्रकाश प्रेरित अनुभूतियों द्वारा उन्हें देश काल का ज्ञान हो जाता था। सन् 1940 में जब द्वितीय महायुद्ध छिड़ा, आचार्यश्री के कानों में उसके समाचार पहुंचे। महाराजश्री ने सहज ही पूछा, यह युद्ध आरंभ किसने किया? उनको बताया गया कि युद्ध की घोषणा सर्वप्रथम जर्मनी ने की है। महाराज का पवित्र मन बोल उठा – "इस युद्ध में जर्मनी निश्चय ही पराजित होगा।" कुछ काल तक जर्मनी की विजय अवश्यंभाविनी माननेवाले लोगों को भी यह दिखा कि आचार्यश्री का अंतःकरण सत्य बात को पहले ही सूचित कर चुका था।

इसी प्रकार गांधीजी की प्रतिष्ठा देश भर में व्याप्त थी। उस समय महाराज बोले – "गांधीजी अच्छे आदमी हैं। उनसे अधिक पुण्यवान जवाहरलाल हैं। वह राजा बनने लायक हैं। गांधी जी ने केवल मनुष्य की दया को ही ठीक माना है।" मैंने पूछा कि "महाराज राजनीति की बातों से तो आप दूर रहते हैं, फिर आपने जवाहरलाल जी के बारे में उक्त बातें कैसे कही थीं।"

महाराज ने कहा – "हमारा हृदय जैसा बोलता है, वैसा हमने कह दिया। हम न गांधी को जानते, न जवाहर को पहचानते।"

अतिमानवीय संकल्पशक्ति के तेजोपुंज

आचार्य शान्तिसागर हीरक जयन्ती विशेषांक के सम्पादक तरुण पत्रकार एवं लेखक श्री सोमसुन्दरम् जी आचार्यश्री के दर्शन एवं साक्षात्कार के लिए दही गांव गए थे। आचार्यश्री के सान्निध्य में उन्होंने तीन दिन बिताए। इन तीन दिनों में आचार्यश्री के संबंध में आपने जो देखा, सुना, विचार किया तथा चर्चा की उसका सार संक्षेप इस प्रकार है –

आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज के अन्यतम श्रावक शिष्य श्री तलकचंद शाह वकील ने श्री सोमसुन्दरम् का परिचय कराते हुए कहा – ये आपसे कुछ प्रश्न करके समाधान कराने के लिए आए हैं। तो महाराज ने मधुर मुस्कराहट के साथ कहा – "एक नहीं, दो नहीं, हजार प्रश्न कर लो। सब का उत्तर दूंगा।

शास्त्रार्थ करना है तो कर लेना।" इस प्रकार के चार शब्द कहकर महाराज ने वातावरण को सौम्य एवं स्निग्ध बना दिया। वातों ही वातों में उन्होंने बतला दिया कि जैन धर्म एवं इतर धर्मों में मौलिक अन्तर क्या है। महाराज श्री ने कहा कि जैन धर्म विश्वास करता है कि त्याग मार्ग (संन्यास मार्ग) से ही मुक्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। जो जीव एक वार मुक्त हो गया, वह पुनः लौटकर नहीं आता अर्थात् मुक्त जीव पुनः जन्म-मरण के वन्धन में नहीं पड़ता। अन्य धर्मों में यह विश्वास पाया जाता है कि मुक्त जीव संसार में रह सकता है या पुनः मृत्युलोक में लौट सकता है। जीवन-मुक्त की कल्पना का यही आधार है। इतर धर्मों और जैन धर्म का मौलिक मतभेद यही है, बाकी सब विवरणात्मक है।

सातगौडा (हमारे कथा नायक) और उनके चचेरे भाई दोनों एक नारियल के बगीचे में खड़े थे। चचेरे भाई के हाथ में बन्दूक थी। चचेरे भाई ने कहा, देखो बन्दूक चलाना सीखने से कितने लाभ हैं। मैं चाहूं तो बन्दूक चलाकर नारियल गिरा सकता हूं। तुम्हें तो उसके लिए पेड़ पर चढ़ना पड़ेगा। सातगौड़ा ने शान्तभाव से कहा-'मेरा विश्वास है कि मैं भी गोली से नारियल गिरा सकता हूं।' सातगौड़ा ने अपने भाई से बन्दूक ले ली और उसके बारे में तथा निशाना लगाने के बारे मे दो-तीन बातें भाई से पूछ लीं। इसके पश्चात् उसने बन्दूक तानकर निशाना लगाया और गोली चला दी। अगले ही क्षण एक नारियल गुच्छे से कटकर गिर पड़ा। भाई साहब और उपस्थित जन आश्चर्य में पड़ गये।

संकल्प की इसी दृढ़ता ने आचार्यश्री को तपस्या के शिखर पर पहुंचा दिया और धर्म के दुरूह मर्मों को भी समझने और समझाने की अद्वितीय प्रतिभा उन्हें प्रदान की। आचार्य महाराज की संकल्प शक्ति एवं शारीरिक वलिष्ठता पर एक पुस्तक स्वतन्त्र रूप से लिखी जा सकती है।

इस सन्दर्भ में आचार्यश्री का ललितपुर चातुर्मास महाराज की अनुपम मानसिक दृढ़ता एवं तपश्चर्या का द्योतक है। इस चातुर्मास का उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि यह चातुर्मास प्राचीन दिगम्बर जैन मुनियों की तपस्या का तो पुण्य स्मरण कराता ही है, साथ ही साथ भविष्य के लिए सीमा रेखा भी निर्धारित करता है। विद्वान लेखक के अनुसार –

दिगम्बर जैन मुनि प्रत्येक चातुर्मास के समय कोई न कोई विशेष व्रत धारण करते हैं और उन्हें निर्विघ्नतापूर्वक पूरा करते हैं। इस प्रथा के अनुसार आचार्यश्री ने ललितपुर के चातुर्मास से पूर्व षट्रस त्याग का संकल्प किया था। इसका अर्थ

यह था कि महाराज उस चातुर्मास भर में दूध, दही, घी, तेल आदि कोई भी रसमय पदार्थ नहीं लेंगे।

इस कठिन व्रत का संकल्प करने के बाद महाराज ने 'सिंहनिष्क्रीड़ित' नामक व्रत का उल्लेख किसी ग्रन्थ में पढ़ा। महाराज की प्रवृत्ति ऐसी है कि कोई कार्य चाहे जितना भी अधिक कठिन हो, उसे कर डालने की उनकी इच्छा भी उतनी ही प्रबल हुआ करती है। यह दम्भ अथवा अभिमान के कारण नहीं, बल्कि आत्मपरीक्षा की भावना से। वे सदा अपने को तपस्या की परीक्षाओं में परखते रहते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने षट्रस-त्याग के साथ-साथ सिंहनिष्क्रीड़ित नाम के महाकठिन व्रत का भी पालन करने का संकल्प कर लिया।

सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत क्या है, यह जाने बिना इस बात का बोध नहीं हो सकता है कि महाराज ने अपने को कैसी कठोर तपस्याग्नि में तपाने का संकल्प किया था। वनचरों के राजा सिंह की चाल विलक्षण ढंग की होती है। वह दो कदम आगे चलता है, फिर रुककर पीछे देखता है। फिर चार कदम आगे जाकर खड़ा हो जाता है और घूमकर देखता है। पीछे की ओर देखने की सिंह की इसी क्रिया को सिंहावलोकन कहा जाता है। सिंह की इस प्रकार की चाल सिंहनिष्क्रीड़ित कहलाती है।

सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत

सिंहनिष्क्रीड़ित व्रतधारी भी इसी प्रकार व्रती चाल चलता है। उसका क्रम कुछ इस प्रकार होता है। एक दिन उपवास, अगले दिन भोजन; तीसरे-चौथे दिन उपवास, पांचवें दिन भोजन; छठे, सातवें-आठवें दिन उपवास, नवें दिन पुनः भोजन। इस आरोहणक्रम से उपवासों की संख्या बढ़ती जाती है। जब नौ उपवास के बाद एक दिन भोजन किया जाता है, तब अवरोहण क्रम शुरू हो जाता है। अर्थात् नौ उपवास, एक भोजन; आठ उपवास, एक भोजन, सात उपवास, एक भोजन; छह उपवास, एक भोजन, इत्यादि। जब यह क्रम एक उपवास और एक भोजन तक पहुंच जाता है, तो पुनः आरोहण क्रम शुरू हो जाता है। इस तरह चातुर्मास की समाप्ति तक आरोहण और अवरोहण क्रम को पूर्णतया निभाते हुए रखना सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत कहलाता है।

एक तो षट्रस-त्याग, ऊपर से सिंहनिष्क्रीड़ित जैसा कठोर व्रत। साधारण समय में भी दिगम्बर जैन मुनि दिन भर में एक बार भोजन करते हैं और एक ही बार

भोजन के समय जल पीते हैं। उपवास के समय तो जल भी नहीं पीते। ऐसी स्थिति में सिंहनिष्क्रीड़ित जैसा कठोर व्रत धारण करने के लिए मन में कितनी दृढ़ता होनी चाहिए, कितनी सम्पूर्ण विरक्ति की भावना चाहिए, इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं।

एक और परीक्षा

महाराज इस अग्निपथ पर चले ही थे कि इतने में भाग्य ने उनके सामने एक और अतिकठोर परीक्षा लाकर खड़ी कर दी। एक दिन आहार के समय महाराज ने जो जल पिया था, उसमें न जाने कुछ खराबी थी; महाराज के तपस्वी शरीर में मलेरिया जैसे असह्य रोग ने घर कर लिया।

महाराज उस समय करीब साठ वर्ष के थे। भारत जैसे देश में साठ वर्ष की आयु वृद्धावस्था ही होती है। अतः महाराज के शिष्य एवं भक्तगण इससे पहले ही इस बात से चिंतित थे कि महाराज ने षट्रस त्याग एवं सिंहनिष्क्रीड़ित जैसे दो कठोर व्रतों को एक साथ धारण कर रक्खा है, उनका वृद्ध शरीर इसको कैसे सह सकता है? ऊपर से जब मलेरिया ने भी आ घेरा तो भक्तों की चिन्ता का वार रहा न पार।

कठोर व्रत एवं रोग के कारण महाराज का शरीर सूख कर लकड़ी हो गया था। मांस नामक वस्तु नाम मात्र के लिए भी शरीर में नहीं रह गयी थी। चमड़े से उढ़ा हुआ हाड़ का पंजर ही शेष रह गया था। देखकर भक्तों के आंसू छलक आते थे।

यदि किसी एक व्यक्ति ने इन बातों की तनिक भी परवाह न की और प्रसन्न रहे, तो वह केवल आचार्यश्री स्वयं थे। उनकी दिनचर्या पूर्ववत् जारी रही। वह किसी भी अनुष्ठान में कोई भी कमी नहीं रहने देते थे। सब भक्तों ने मिलकर अश्रुमय विनती की कि महाराज, इस समय षट्-रस त्याग अथवा सिंहनिष्क्रीड़ित, किसी एक व्रत को त्याग दीजिए। आपकी वर्तमान दशा में कोई इसे अनुचित नहीं कह सकता। पर महाराज टस से मस न हुए। कहीं अचल भी हिला करते हैं?

एक दिन सिंहनिष्क्रीड़ित के आरोहणक्रम में नौ दिन लगातार उपवास करने के बाद महाराज के भोजन करने की बारी आयी। महाराज का शरीर क्या था,

केवल चमड़े से ढंकी हुई ठठरी शेष रह गयी थी। उसमें अब भी जान थी और वह चल-फिर सकती थी, यही अविश्वसनीय आश्चर्य का विषय था।

श्रावकों को चिन्ता

महाराज के आहार के लिए कितने ही चौके लगे हुए थे। नौ दिन के उपवास के बाद महाराज केवल एक दिन आहार ग्रहण कर रहे हैं। कहीं कोई भी अन्तराय हो गया, अनुष्ठान में जरा भी त्रुटि रह गयी, तो वह भोजन नहीं करेंगे। उस दिन भी महाराज यदि निराहार रह गये, तो फिर सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत के कारण और आठ दिन उन्हें उपवास करना होता और इस तरह कुल अठारह दिनों का निरंतर उपवास हो जाता। उस रुग्ण अवस्था में उतना दीर्घ उपवास महाराज के वृद्ध शरीर से कैसे सहा जायेगा? इसीलिए सभी श्रावकों को इस बात की विशेष चिन्ता थी।

इन विचारों से श्रावकगण एकदम घबड़ाये हुए थे। एक बहुत बड़ा दायित्व उनके कंधों पर था, अतः उनकी घबराहट स्वाभाविक थी।

अत्यंत शुद्ध स्वच्छ भोजन तैयार हो गया। आखिर महान् परीक्षा की घड़ी आ गयी। आचार्य महाराज ज्वर के वेग से कांपते हुए शरीर के साथ चलकर आये।

पं. जगमोहन दम्पति ने विधिवत् उनको आहारार्थ पड़गाहन किया, अर्घ्य, पादजल आदि दिया, और महाराज करपात्र में आहार करने को तैयार हो गए।

अब पं. जगमोहन के कंपकंपी सी लग गयी। न उनसे कुछ करते बनता था, न उनकी पत्नी ही कुछ कर सकती थी। दोनों के शरीर थर-थर कांप रहे थे।

उधर महाराज ज्वर-दग्ध दुर्बल शरीर के साथ खड़े हैं।

भाग्यवश, फलटणवाले वकील तकचन्द जी वहां थे। वह पण्डित जी के घनिष्ठ मित्र थे और आचार्यश्री के अनन्य भक्त। उन्होंने झट पण्डित जी से कहा, "यह क्या कर रहे हो? आचार्यश्री कब तक खड़े रहेंगे? जल्दी से कुछ खाद्य पदार्थ लेकर उनके करपात्र में धरो, ताकि वे आहार प्रारम्भ करें।"

वकील साहब की इस सामयिक चेतावनी ने दिव्यौषध का काम किया। पं. जगमोहन जी और उनकी धर्मपत्नी जागरूक हो गये और आचार्यश्री को विधिवत् आहार कराना आरम्भ किया।

एक महान विपदा टल गयी। आचार्यश्री की आहारविधि निर्विघ्न रूप से, बिना

अन्तराय के समाप्त हुई। दिगम्बर जैन समाज की जान में जान आयी।

इस तरह इस अत्यन्त कठिन परीक्षा में आचार्यजी पूर्णतः सफल निकले और सभी व्रतों को नियमपूर्वक पूरा किया और साथ ही स्वस्थ भी हो उठे। ठीक उसी प्रकार, जैसे सुवर्ण अग्नि में दीर्घकाल तक तपकर कुन्दन हो उठता है।

वह जन्मजात तपस्वी हैं। मन-वचन-काय पर, पंचेन्द्रियों पर उन्हें सम्पूर्ण विजय प्राप्त है। अतः उनके लिए ये सब साधनायें अतीव सुलभ-साध्य हैं, यद्यपि हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के निकट ये कल्पनातीत हैं।

जैन धर्मायतनों की रक्षा के लिए अन्नाहार का ऐतिहासिक त्याग

जैन धर्मायतनों पर आई विपत्ति के निवारणार्थ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज ने अगस्त 1948 से अन्नाहार का त्याग कर दिया था। आपकी भीष्म प्रतिज्ञा से जैन समाज में हड़कम्प मच गया। जैन समाज के शीर्ष नेताओं एवं बुद्धिजीवियों ने महाराजश्री से प्रार्थना की कि राजनीति का यंत्र मंद गति से चलता है। यह कार्य बहुत समय साध्य है। अतः आप अन्न ग्रहण कीजिए। आचार्यश्री ने कहा – ''हमने जिनेन्द्र भगवान् के सामने जो प्रतिज्ञा की है क्या उसे भंग कर दें?'' सभी सज्जन चुप रह गए। आचार्यश्री का अपने ध्येय के लिए अद्भुत आत्मविश्वास था। आचार्यश्री की प्रेरणा से भारतवर्ष का जैन समाज अपने मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए बम्बई हाई कोर्ट तक गया। विद्वान् न्यायाधीशों ने 24 जुलाई 1951 को युक्तिपूर्ण ढंग से विद्वत्तापूर्वक निर्णय दिया। इस ऐतिहासिक निर्णय से जैन समाज में हर्ष की लहर छा गई। सभी ने आचार्यश्री से अन्नाहार के लिए प्रार्थना की, किन्तु आचार्यश्री ने कहा – ''अभी हम हाईकोर्ट का सील लगा फैसला देखेंगे ओर विचारेंगे। सुप्रीम कोर्ट की अपील की अवधि को भी समाप्त होने दो। समाज के विशेष आग्रह पर आचार्यश्री ने रक्षाबन्धन पर्व 16 अगस्त 1951 को अन्न ग्रहण किया।

आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज का अगस्त 1948 से 16 अगस्त 1951 तक 1105 दिन अन्न न ग्रहण करने का सत्याग्रह, अनशन के इतिहास में विश्व कीर्तिमान का अनुपम उदाहरण है; किन्तु सत्याग्रह से अनुप्रेरित अन्न ग्रहण न करने का यह अनुष्ठान जैन धर्म के स्वातन्त्र्य की रक्षा और प्रतिष्ठा के प्रति भी महान् योगदान है।

तपस्या का अहोभाग्य!

आचार्य शान्तिसागर जी महाराज में जन्म से ही अतिमानवीय संकल्प शक्ति, मानसिक साहस एवं शारीरिक बल था, उसका वह जीवन के जिस क्षेत्र में भी उपयोग करते, सफलता के उच्चतम शिखर तक अनायास ही पहुंच सकते थे। धनकुबेर, राजनीतिक नेता, उद्योगपति, योद्धा, शासक, जो भी वह चाहते बन सकते थे। जो लोग आज इन विभिन्न क्षेत्रों में अग्रिम श्रेणी पर पहुंचे हुए हैं, उनके व्यक्तित्वों की विशेषताओं के साथ आचार्यश्री के व्यक्तित्व की तुलना करने पर इस कथन की सार्थकना स्पष्ट सिद्ध हो जायेगी।

यह तपस्या का अहोभाग्य है कि आचार्य महाराज ने जीवन के उपरोक्त अन्य क्षेत्रों को तुच्छ समझ कर त्याग दिया और विरक्ति का मार्ग अपनाया।

नैतिक एवं आध्यात्मिक तन्द्रा के इस युग में भी भारत ने ऐसे एक यतीन्द्र को जन्म दिया, यह इस देश की आन्तरिक महानता का द्योतक है। ऐसे तपोधन को अपना कहने की योग्यता पाने पर दिगम्बर जैन समाज निःसन्देह गर्व कर सकता है।

मै. वर्द्धमान ड्रग्स
1617, दरीवा कलां, दिल्ली–110006
दूरभाष : (कार्या.) 23288437
(नि.) 23288428

मूलाचार में प्रतिपादित आर्यिकाओं का स्वरूप एवं समाचार

– डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

श्रमण जैन परम्परा में चतुर्विध संघ की स्वीकृति है। चतुर्विध संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये चार वर्ग आते हैं। इनमें मुनि (पुरुष) तथा आर्यिका (स्त्री) गृहस्थावस्था छोड़कर दीक्षित होते हैं तथा श्रावक एवं श्राविका गृहस्थ अणुव्रतादि का पालन करने वाले पुरुष व स्त्री हैं। चतुर्विध संघ में आर्यिका का द्वितीय स्थान है। संस्कृत के प्रामाणिक शब्दकोशों में आर्यक, आर्यिका शब्द का भी उल्लेख है जिसका अर्थ आदरणीय महिला के रूप में किया गया है।[1]

दिगम्बर जैन परम्परा में जीव की स्त्री पर्याय से मुक्ति यद्यपि स्वीकार नहीं की गयी है, जिसके पीछे मुख्य कारण मोक्ष के लिए अनिवार्य उत्कृष्टतम संयम एवं कठोर तपश्चरणादि में स्त्रियों की स्वभावगत शारीरिक अक्षमता माना गया है; किन्तु स्त्री अवस्था में भी संभव उत्कृष्ट धर्म साधना की उन्हें पूर्ण अनुमति तथा सुविधा प्रदान की गयी है। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समवशरण में जहाँ एक तरफ कुल मुनियों की संख्या 84084 (चौरासी हजार चौरासी) थी, वहीं दूसरी तरफ आर्यिकाओं की संख्या 350,000 (तीन लाख पचास हजार) थी। श्रावकों की संख्या तीन लाख थी तो श्राविकाओं की संख्या पांच लाख थी। इसी प्रकार अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के समवशरण में 14000 (चौदह हजार) मुनि थे, तो आर्यिकाओं की संख्या 36000 थी। यदि एक लाख श्रावक थे तो तीन लाख श्राविकायें थीं। शेष सभी तीर्थंकरों के समवशरणों में विभिन्न संख्याओं के माध्यम से यही दिखायी देता है कि आर्यिकाओं और श्राविकाओं की संख्या कहीं अधिक रही है।[2] यह स्थिति वर्तमान में भी देखी जा सकती है।

1. आर्यिका के पर्यायवाची शब्द –

दिगम्बर परम्परा में दीक्षित स्त्री को आर्यिका कहा जाता है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में दीक्षित स्त्री को साध्वी कहा जाता है। भगवती आराधना (गाथा-396) में अज्जा (आर्या) शब्द आया है, मूलाचार में भी यही शब्द प्रयोग किया गया है।[3] इसी ग्रन्थ में गाथा-180 में 'विरदाणं' (विरतीनां) शब्द का प्रयोग आर्यिका के लिए है। वसुनन्दि ने गाथा-177 की वृत्ति में 'संयती' कहा है। पद्मपुराण में 'संयता' और 'श्रमणी' शब्द आर्यिकाओं के लिए ही प्रयुक्त किये गये हैं।[4] मूलाचार में प्रधान आर्यिका को 'गणिनी' तथा संयम, साधना एवं दीक्षा में ज्येष्ठ, वृद्धा आर्यिका को स्थविरा (थेरी) कहा गया है।[5] वर्तमान में सामान्यतः 'माताजी' सम्बोधन उनके लिए प्रचलित है। प्रधान आर्यिका को 'बड़ी माताजी' सम्बोधन भी जन-समुदाय में प्रचलित हो गया है। किन्तु इन सम्बोधनों का कोई शास्त्रीय आधार देखने में नहीं आया है।

2. आर्यिकाओं का स्वरूप –

मूलाचारकार के अनुसार आर्यिकायें विकार रहित वस्त्र और वेष को धारण करने वालीं, पसीनायुक्त मैल और धूलि से लिप्त रहती हुयीं भी वे शरीर संस्कार से शून्य रहती हैं। धर्म, कुल, कीर्ति और दीक्षा के अनुकूल निर्दोषचर्या को करती हैं–

अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूपविसुद्धचरियाओ।। गाथा-190

इस गाथा की आचारवृत्ति में कहा है कि जिनके वस्त्र, वेष और शरीर आदि के आकार विकृति से रहित, स्वाभाविक-सात्त्विक हैं, अर्थात जो रंग-बिरंगे वस्त्र, विलासयुक्त गमन और भ्रूविकार कटाक्ष आदि से रहित वेश को धारण करने वाली हैं। सर्वांग में लगा हुआ पसीना से युक्त जो रज है वह जल्ल है। अंग के एक देश में होने वाला मैल मल कहलाता है। जिसका गात्र इन जल्ल और मल से लिप्त रहता है, जो शरीर के संस्कार को नहीं करती हैं, ऐसी ये आर्यिकायें क्षमा, मार्दव आदि धर्म, माता-पिता के कुल, अपना यश और अपने व्रतों के अनुरूप निर्दोष चर्या करती हैं अर्थात् अपने धर्म, कुल आदि के विरुद्ध आचरण नहीं करती हैं।[6]

3. आर्यिकाओं का समाचार –

जिस प्रकार आचारविषयक मूलाचारादि ग्रन्थों में मुनियों का स्वरूप, चर्या, नियम-विधानादि का उल्लेख प्राप्त होता है उस विस्तार के साथ आर्यिकाओं का वर्णन प्राप्त नहीं होता है। साधना के क्षेत्र में मुनि और आर्यिका में किञ्चित् अन्तर स्पष्ट करके आर्यिकाओं के लिए मुनियों के समान ही आचार-समाचार का प्रतिपादन इस साहित्य में प्राप्त होता है। मूलाचार तथा उसकी वसुनन्दिकृत संस्कृत वृत्ति में स्पष्ट निर्देश है कि जैसा समाचार श्रमणों के लिए कहा गया है उसमें वृक्षमूल योग (वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे खड़े होकर ध्यान करना), अभ्रावकाशयोग (शीत ऋतु में खुले आकाश में तथा ग्रीष्म ऋतु में दिन में सूर्य की ओर मुख करके खड्गासन मुद्रा में ध्यान करना) एवं आतापन योग (प्रचण्ड धूप में भी पर्वत की चोटी पर खड़े होकर ध्यान करना) आदि योगों को छोड़कर अहोरात्र सम्बन्धी सम्पूर्ण समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य रूप में समझना चाहिए[7] –

एसो अज्जाणंपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं।। (187)

इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं के लिए वे ही अट्ठाईस मूलगुण और वे ही प्रत्याख्यान, संस्तर ग्रहण आदि, वे ही औघिक पदविभागिक समाचार माने गये हैं जो कि इस ग्रन्थ में मुनियों के लिए वर्णित हैं। मात्र 'यथायोग्य' पद से टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया कि उन्हें वृक्षमूल आदि उत्तर योगों के करने का अधिकार नहीं है, यही कारण है कि आर्यिकाओं के लिये पृथक् दीक्षाविधि या पृथक् विधि-विधान का ग्रन्थ नहीं है।

3.1 आर्यिकाओं के रहने का स्थान तथा व्यवहार –

जिस प्रकार मुनि सदा भ्रमणशील रहते हुये संयम साधना करते हैं उसी प्रकार आर्यिकायें भी अनियत विहार करती हुयीं सतत् साधनारत रहती हैं; किन्तु जब उन्हें रात्रि में या कुछ दिन या चातुर्मास आदि में रुकना होता है तब उनके रहने का स्थान कैसा होना चाहिए इसका वर्णन मूलाचार में किया गया है –

अगिहत्थमिस्सणिलए असण्णिवाए विसुद्धसंचारे।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति।। (गाथा-191)

अर्थात् जो गृहस्थों से मिश्रित न हो, जिसमें चोर आदि का आना-जाना न हो और जो विशुद्ध संचरण के योग्य हो ऐसी वसतिका में दो या तीन या बहुत सी आर्यिकायें एक साथ रहती हैं। आचारवृत्ति में कहा है कि जो अपनी पत्नी और परिग्रह में आसक्त हैं उन गृहस्थों से मिश्र वसतिका नहीं होनी चाहिए। जहाँ पर असंयतजनों का संपर्क नहीं रहता है, जहाँ पर असज्जन और तिर्यंचों आदि का रहना नहीं है अथवा जहाँ सत्पुरुषों की सन्निकटता नहीं है अथवा जहाँ असंज्ञियों-अज्ञानियों का आना-जाना नहीं है अर्थात् जो बाधा रहित प्रदेश है। विशुद्ध संचार अर्थात् जो बाल, वृद्ध और रुग्ण आर्यिकाओं के रहने योग्य है और जो शास्त्रों के स्वाध्याय के लिए योग्य है, वह स्थान। इस प्रकार, मुनियों की वसतिका की निकटता से रहित, विशुद्ध संचरण युक्त वसतिका में आर्यिकायें दो या तीन अथवा तीस या चालीस पर्यन्त भी एक साथ रहती हैं। आर्यिकायें परस्पर में एक दूसरे की अनुकूलता रखती हुयीं, एक दूसरे की रक्षा के अभिप्राय को धारण करती हुयीं; रोष, बैर, माया से रहित; लज्जा, मर्यादा और क्रियाओं से संयुक्त; अध्ययन, मनन, श्रवण, उपदेश, कथन, तपश्चरण, विनय, संयम और अनुप्रेक्षाओं में तत्पर रहती हुयीं; ज्ञानाभ्यास-उपयोग तथा शुभोपयोग से संयुक्त, निर्विकार वस्त्र और वेष को धारण करती हुयीं, पसीना और मैल से लिप्त काय को धारण करती हुयीं, संस्कार-श्रृंगार से रहित; धर्म, कुल, यश और दीक्षा के योग्य निर्दोष आचरण करती हुयीं अपनी वसतिका में निवास करती हैं –

अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमाया सलज्जमज्जादकिरियाओ।।
अज्झयणे परियट्ठे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ।

(– मूलाचार, गाथा 188-189)

3.2 आर्यिकाओं की आहारचर्या –

आर्यिकाओं को आहारचर्या के लिए अकेले जाने की स्वीकृति नहीं है। मूलाचार में कहा है कि आर्यिकायें तीन, पांच, अथवा सात की संख्या में स्थविरा (वृद्धा) आर्यिका के साथ मिलकर उनका अनुगमन करती हुई तथा परस्पर एक दूसरे के रक्षण (सँभाल) का भाव रखती हुई ईर्यासमिति पूर्वक आहारार्थ निकलती हैं –

तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा।। गाथा-194

आचारवृत्ति के अनुसार यहाँ भिक्षावृत्ति उपलक्षण मात्र है। जैसे किसी ने कहा - 'कौवे से दही की रक्षा करना' तो उसका अभिप्राय यह हुआ कि बिल्ली आदि सभी से उसकी रक्षा करना है। उसी प्रकार से यहाँ ऐसा अर्थ लेना चाहिए कि आर्यिकाओं का जब भी वसतिका से गमन होता है तब इसी प्रकार से होता है, अन्य प्रकार से नहीं। तात्पर्य यह है कि आर्यिकायें देववंदना, गुरुवंदना, आहार, विहार, नीहार आदि किसी भी प्रयोजन के लिए बाहर जावें तो दो-चार आदि मिलकर तथा वृद्धा आर्यिकाओं के साथ होकर ही जावें। (पृ. 158-159)

3.3 आर्यिकाओं के लिए निषिद्ध कार्य –

विना किसी उचित प्रयोजन के परगृह, चाहे वह मुनियों की ही वसतिका क्यों न हो, या गृहस्थों का घर हो, वहाँ आर्यिकाओं का जाना निषिद्ध है। यदि भिक्षा, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि विशेष प्रयोजन से वहाँ जाना आवश्यक हो तो गणिनी (महत्तरिका या प्रधान आर्यिका) से आज्ञा लेकर अन्य कुछ आर्यिकाओं के साथ मिलकर जा सकती हैं, अकेले नहीं –

ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज।। (मूलाचार-गा.192)

आर्यिकाओं का स्व-पर स्थानों में दुःखार्त्त को देखकर रोना, अश्रुमोचन, स्नान (बालकों को स्नानादि कार्य कराना), भोजन कराना, रसोई पकाना, सूत कातना, छह प्रकार का आरम्भ और जीवघात की कारणभूत क्रियायें पूर्णतः निषिद्ध हैं। संयतों के पैरों की मालिश करना, उनका प्रक्षालन करना, गीत गाना आदि कार्य उन्हें पूर्णतः निषिद्ध हैं –

रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खणधोवणगेयं च ण य कुज्जा।। (गा. 193)

असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और लेख – ये जीवघात के हेतुभूत छह प्रकार की आरम्भ क्रियायें हैं। ये भी आर्यिकाओं को निषिद्ध हैं।[8]

3.4 स्वाध्याय के नियम –

स्वाध्याय को अन्तरंङ्ग तप की श्रेणी में गिना जाता है। मुनि-आर्यिका आदि सभी के लिए स्वाध्याय आवश्यक माना है। मूलाचार में आर्यिकाओं के स्वाध्याय के

विषय में लिखा है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली तथा अभिन्नदशपूर्वधर – इनके द्वारा कथित सूत्रग्रंथ, अंग ग्रंथ तथा पूर्वग्रंथ, इन सबका अस्वाध्यायकाल में अध्ययन मन्दबुद्धि के श्रमणों और आर्यिका समूह के लिए निषिद्ध है। अन्य मुनीश्वरों को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि की शुद्धि के बिना उपर्युक्त सूत्रग्रंथ पढ़ना निषिद्ध है। किन्तु इन सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त आराधनानिर्युक्ति, मरणविभक्ति, स्तुति, पंचसंग्रह, प्रत्याख्यान, आवश्यक तथा धर्मकथा सम्बन्धी ग्रन्थों को एवं ऐसे ही अन्यान्य ग्रन्थों को आर्यिका आदि सभी अस्वाध्यायकाल में भी पढ़ सकते हैं। (आ. वृत्ति. पृ. 235-37)

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए।। (गाथा-278)
आराहणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ।। (गा. 279)

3.5 वंदना और विनय संबंधी निर्देश –

आर्यिकाओं के द्वारा श्रमणों की वंदना विधि के विषय में कहा है कि आचार्य की वन्दना पाँच हाथ दूर से, उपाध्याय की वन्दना छह हाथ दूर से और साधु की वन्दना सात हाथ दूर से गवासन पूर्वक बैठकर ही करना चाहिए।

पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति।। (गाथा-195)

यहाँ यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से है।

यहाँ तो आर्यिकाओं द्वारा श्रमणों की विनय की व्याख्या की है किन्तु पंचाचाराधिकार में विनय के प्रकरण में यह भी बताया गया है कि मुनियों को भी आर्यिकाओं के प्रति यथायोग्य विनय रखनी चाहिए।

रादिणिए उणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण।। (गाथा-384)

अर्थात् एक रात्रि भी अधिक गुरु में, दीक्षा में एक रात्रि न्यून भी मुनि में, आर्यिकाओं में और गृहस्थों में अप्रमादी मुनि को यथायोग्य यह विनय करनी चाहिए। आचारवृत्ति के अनुसार जो दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं वे रात्र्यधिक गुरु हैं। यहाँ रात्र्यधिक शब्द से दीक्षा गुरु, श्रुतगुरु और तप में अपने से बड़े

गुरुओं को लिया है। जो दीक्षा से एक रात्रि भी छोटे हैं वे ऊनरात्रिक कहलाते हैं। यहाँ पर ऊनरात्रिक से जो तप में कनिष्ठ–लघु हैं, गुणों में लघु हैं और आयु में लघु है उन साधुओं में, अपने से छोटे मुनियों में, आर्यिकाओं में और श्रावक वर्गों में प्रमाद रहित मुनि को यथायोग्य विनय करना चाहिए। अर्थात् साधुओं के जो योग्य हो, आर्यिकाओं के जो योग्य हो, श्रावकों के जो योग्य हो और अन्यों के भी जो योग्य हो, वैसा ही करना चाहिए। विशेषार्थ में लिखा है कि यहाँ पर जो मुनियों द्वारा आर्यिकाओं की विनय है उसे नमस्कार नहीं समझना, प्रत्युत यथायोग्य शब्द से ऐसा समझना कि मुनिगण आर्यिकाओं का भी यथायोग्य आदर करें, क्योंकि 'यथायोग्य' पद उनके अनुरूप अर्थात् पदस्थ के अनुकूल विनय का वाचक है। उससे आदर सन्मान और बहुमान ही अर्थ सुघटित है।[9]

3.6 आर्यिकाओं के गणधर –

आर्यिकाओं को दीक्षा देना, उनकी शंकाओं का समाधान करना तथा उन्हें स्वाध्याय आदि करवाने के उद्देश्य से श्रमण को उनके संपर्क में यथासमय आना होता है। श्रमण संघ की इस व्यवस्था के अनुसार साधारण श्रमणों (मुनियों) की अकेले आर्यिकाओं से बातचीत आदि का निषेध है। आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि विधि संपन्न कराने के लिए मूलाचार के अनुसार गणधर मुनि की व्यवस्था होनी चाहिए।

आर्यिकाओं के गणधर (आचार्य आदि विशेष) को कैसा होना चाहिए उसके विषय में आचार्य वट्टकेर लिखते हैं – जो धर्म के प्रेमी हैं, धर्म में दृढ़ हैं, संवेग भाव सहित हैं, पाप से भीरु हैं, शुद्धाचरण वाले हैं, शिष्यों के संग्रह और अनुग्रह में कुशल हैं और हमेशा ही पाप क्रिया की निवृत्ति से युक्त हैं, गंभीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मित बोलने वाले हैं, किंचित् कुतूहल करते हैं, चिरदीक्षित हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं – ऐसे मुनि आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं :

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो।।
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि।। (गाथा 183-184)

यदि आचार्य इन गुणों से रहित हैं और आर्यिकाओं के गणधर बनते हैं तो क्या

होगा? उसके बारे में भी मूलाचारकार कहते हैं कि इन गुणों से रहित आचार्य यदि आर्यिकाओं का आचार्यत्व करता है तो उसके चार काल विराधित होते हैं और गच्छ की विराधना हो जाती है –

एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज।। 185 ।।

आचारवृत्ति में चार काल से तात्पर्य गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ, अथवा दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसंस्कार लगाया गया है। इस प्रकार, यदि आचार्य गुणहीन हो तो संघ भी भंग हो जाता है।

4. आर्यिका और मुनि के मध्य निर्धारित मर्यादायें –

जैन श्रमण परम्परा में श्रमण संघ को निर्दोष एवं अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आगम साहित्य में अनेक विधान निर्मित हैं। उनमें आर्यिका और मुनि के मध्य संबंधों की मर्यादा कैसी होनी चाहिए इस बात पर भी विशेष बल दिया है।

मूलाचार के अनुसार मुनियों एवं आर्यिकाओं का संबंध (परस्पर व्यवहार) धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। यदि आवश्यक हुआ तो कुछ आर्यिकायें एक साथ मिलकर श्रमण से धार्मिक शास्त्रों के अध्ययन, शंका-समाधान आदि कार्य कर सकती हैं, अकेले नहीं। अकेले श्रमण और आर्यिका के परस्पर बातचीत तक का निषेध है। कहा भी है कि तरुण श्रमण किसी भी तरुणी आर्यिका या अन्य किसी स्त्री से कथा-वार्तालाप न करे। यदि इसका उल्लंघन करेगा तो आज्ञाकोप, अनवस्था (मूल का ही विनाश), मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम-विराधना – इन पाप के हेतुभूत पांच दोषों से दूषित होगा –

तरुणो तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि कुज्जा।
आणाकोवादीया पंचवि दोसा कदा तेण।। (गा. 179 वृत्ति सहित)

अध्ययन या शंका-समाधान अथवा अन्य प्रयोजनभूत, अत्यावश्यक धार्मिक कार्यों के लिए आर्यिकायें यदि श्रमण संघ आयें तो उस समय श्रमण को वहाँ अकेले नहीं ठहरना चाहिए और निष्प्रयोजन उनसे वार्तालाप नहीं करना चाहिए किन्तु कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंङ्ग में बोलना भी ठीक है[10]–

अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण।
ताहिं पुण सल्लावो ण कायव्वो अकज्जेण।। (गा. 177)

एक आर्यिका कुछ प्रश्नादि पूछे तो अकेला श्रमण उसका उत्तर न दे, अपितु कुछ श्रमणों के सामने उत्तर दे। यदि कोई आर्यिका गणिनी को आगे करके प्रश्न करे तब ही उत्तर देना चाहिए –

तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु।
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं।। (गा. 178)

अभी तक तो यह बताया कि आर्यिका को अकेले श्रमणों की वसतिका में नहीं जाना चाहिए किन्तु मूलाचार में यह भी कहा है कि श्रमणों को भी आर्यिकाओं की वसतिका में नहीं जाना चाहिए, न ठहरना चाहिए। वहाँ क्षणमात्र या कुछ समय तक की प्रयोजनभूत क्रियायें भी नहीं करनी चाहिए। अर्थात् वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा-ग्रहण, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं मलोत्सर्ग आदि क्रियायें पूर्णतः निषिद्ध हैं[11]–

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चिट्ठेदुं।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारभिक्खोवसरणं।।

(गाथा-180, वृत्तिसहित)

मूलाचार के समयसाराधिकार में कहा है कि जो मुनि आर्यिकाओं की वसतिका में आते-जाते हैं, उनकी व्यवहार से भी निन्दा होती है और परमार्थ से भी। पारस्परिक आकर्षण बढ़ाने वाले प्रयास से परमार्थ बाधित होता है तथा व्यवहार जगत में भी ऐसे मुनि निन्दा के भागी बन जाते हैं –

होदिं दुगंछा दुविहा ववहारादो तधा य परमट्ठे।
पयदेण य परमट्ठे ववहारेण य तहा पच्छा।। (गाथा-955)

इस प्रकार मुनियों को आर्यिकाओं के रहने वाले स्थल पर आने-जाने का स्पष्ट रूप से निषेध किया गया है। इसी प्रकरण में आगे कहा है कि जो साधु क्रोधी, चंचल, आलसी, चुगलखोर है एवं गौरव और कषाय की बहुलता वाला है वह श्रमण आश्रय लेने योग्य नहीं है –

चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो।। (गाथा-957)

यह गाथा आर्यिकाओं की चर्चा के बाद क्रमप्राप्त होने से ऐसा लगता है कि उन्हीं के लिए कही गई है किन्तु सम्भवतः मूलाचारकार यह संदेश सभी मुनियों एवं श्रावकों को देना चाह रहे हैं क्योंकि गाथा संख्या-959 में उनका स्पष्ट कहना है कि **आरम्भ सहित श्रमण चिरकाल से दीक्षित क्यों न हो तो भी उसकी उपासना न करें** –

दंभं परपरिवादं णिसुणत्तण पावसुत्तपडिसेवं।
चिरपव्वइदं पि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज।। (गाथा-959)

वसुनन्दि इस गाथा की टीका करते हुये कहते हैं कि 'मारण, उच्चाटन, वशीकरण, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, ठगशास्त्र, पुत्रशास्त्र, कोकशास्त्र, वात्स्यायनशास्त्र, पितरों के लिए पिण्ड देने के कथन करने वाले शास्त्र, मांसादि के गुणविधायक वैद्यक शास्त्र, सावद्यशास्त्र तथा ज्योतिष शास्त्र में रत मुनि भले ही कितना ज्येष्ठ क्यों न हो उसका संसर्ग न करें। (आचारवृत्ति पृ. 142, मूलाचार उत्तरार्द्ध)

इस प्रकार मूलाचार में ऐसे मुनि के संसर्ग और उनकी उपासना का निषेध किया गया है जो वीतरागता के पथ से च्युत होकर आरम्भयुक्त हो गये हैं।

उपसंहार –

प्रस्तुत निवन्ध में अधिकांश प्रतिपादन आचार्य वट्टकेर विरचित मूलाचार तथा इसी ग्रन्थ में वसुनन्दि विरचित आचारवृत्ति के आधार पर किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द विरचित ग्रन्थों तथा भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में भी आर्यिकाओं के सम्वन्ध में चर्चायें विद्यमान हैं। सभी स्थलों पर आर्यिकाओं का सम्माननीय स्थान है; उनके महत्त्व तथा उनकी चर्याओं का उल्लेख है।

यह बात भी सही है कि आर्यिकाओं के आचार के लिए पृथक् शास्त्र की रचना नहीं हुयी। मूलतः श्रमणाचार की ही चर्चा है और अधिकांशतः (कुछ वातों को छोड़कर) आर्यिकाओं के लिए भी श्रमणवत् ही सभी विधान हैं। आर्यिकाओं को वे ही महाव्रत कहे गये हैं जो मुनियों के हैं किन्तु आर्यिकाओं के लिए ये महाव्रत उपचार से कहे हैं। इसी प्रसंङ्ग में इस ग्रंथ की हिन्दी अनुवादिका आर्यिका ज्ञानमती जी ने आद्य उपोद्घात में सागारधर्मामृत के एक श्लोक के आधार पर लिखा है कि "ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोट में ममत्व सहित होने से उपचार

महाव्रत के योग्य भी नहीं है, किन्तु आर्यिका एक साड़ी मात्र धारण करने पर भी ममत्व रहित होने से उपचार महाव्रती है।[12] एक साड़ी पहनना और बैठकर आहार करना इन दो चर्याओं में ही मुनियों से इनमें अन्तर है।"

श्रमणों और आर्यिकाओं के बीच मर्यादाओं का विधान मूलाचार में किया गया है उसमें एक भी विधान ऐसा नहीं है जिसका पालन वर्तमान में सहजतया न किया जा सके, प्रत्युत वर्तमान के वातावरण में उसका पालन अधिक दृढ़ता पूर्वक होना चाहिए।

सन्दर्भ-

1. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, प्रका. मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, द्वि. सं., 1969, पृ. 160.
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-2, संक. क्षु. जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ 386-88.
3. मूलाचार-आचार्य वट्टकेर विरचित, वसुनन्दि की संस्कृत वृत्ति सहित, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2006, गाथा- 177, 184, 185, 187, 191, 196.
4. त्यक्ताशेष गृहस्थवेषरचना मंदोदरी संयता। (पर्व 78, छन्द 94)
   श्रीमती श्रमणी पार्श्वे बभूवुः परमार्यिका। - पद्मपुराण
5. मूलाचार, देखें गाथा 178, 192, वृत्ति सहित, तथा गाथा-194
6. मूलाचार, गाथा-190, आचारवृत्ति, पृष्ठ-155
7. मूलाचार-गाथा-187, वृत्ति सहित
8. मूलाचार आचारवृत्ति, गा. 193, पृ. 158
9. मूलाचार आचारवृत्ति; विशेषार्थ सहित; गाथा-384; पृ. 305-6
10. मूलाचार, गाथा-177 वृत्ति सहित, पृ. 146
11. यही गाथा समयसाराधिकार में भी है, देखें गाथा-954 (मात्र भिक्षा-ग्रहण का प्रयोग नहीं है।)
12. कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वात् नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
    अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटिकेऽप्यार्यिकार्हति।।
    - मूलाचार, उत्तरार्द्ध; आद्य उपोद्घात, पृ० 5

अन्य सहायक ग्रन्थ-

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, 2, 3, 4, 5
2. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन- डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी, प्रका. पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में वर्णित पुरुष और पुरुषार्थ

– डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन

आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव का महान उपकार उनके द्वारा रचित 'पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' ग्रंथ है जिससे व्यक्ति स्व-उत्थान की प्रेरणा पाता है, सदाचारी बनता है और विशेष रूप से अहिंसादि व्रतों का पक्षधर बनता है। यह ग्रंथ 'यथानाम तथागुणः' की उक्ति को चरितार्थ करता है। यहाँ 'पुरुष' शब्द पुल्लिंग-पुरुष का प्रतीक न होकर आत्मा का प्रतीक है जिसका प्रकट रूप हमें पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक संख्या-9 में मिलता है। इसमें आया 'अस्ति' शब्द प्रारंभ में रखा गया है जो आत्मा के अस्तित्व का सूचक है। यह श्लोक इस प्रकार है –

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शरसगन्धवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः।।[1]

अर्थात् जीव चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से रहित है, गुण-पर्याय सहित है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है।

यहाँ जीव (आत्मा) की चार विशेषताएं दिखाई गयी हैं –

1. इसमें आगत 'पुरुष' शब्द जीव या आत्मद्रव्य का सूचक है, मनुष्यार्थक नहीं।

2. 'चिदात्मा' पद बता रहा है कि यह आत्मद्रव्य चेतनस्वरूप है, पुद्गलादि पाँच द्रव्यों की तरह जड़ नहीं है। 'स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-विवर्जित' से तात्पर्य है कि यह आत्मा पुद्गल की तरह मूर्तिक द्रव्य नहीं, अपितु आकाशवत् अमूर्तिक है।

3. 'गुणपर्ययसमवेतः' का अर्थ है कि यह गुण-पर्याय सहित है। यह हर समय अपने स्वभाव-विभाव रूप गुण-पर्यायों से युक्त रहता है, दूसरों के गुण-पर्यायों से कोई संबंध नहीं रखता।

4. "समुदय-व्यय-ध्रौव्यैः" से तात्पर्य है कि यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। यह इसका स्वतः सिद्ध स्वभाव है। यहाँ विशेषता यह है कि संसार

में रहने पर विभाव रूप उत्पाद-व्यय करता है और सिद्धपर्याय में स्वभाव रूप उत्पाद-व्यय करता है। 'ध्रौव्य' शब्द से आत्मा की अविनश्वर-ध्रुव सत्ता का पता चलता है। यह अपनी त्रैकालिक सत्ता को छोड़कर उत्पाद-व्यय नहीं करता है।

पुरुष (आत्मा) की उक्त विशेषताओं की पुष्टि इस प्रकार की गई है –

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च।।
सर्व विवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः।।[2]

अर्थात् वह पुरुष-जीव सदा अनादि संतति से ज्ञान के विवर्तों से परिणमन करता हुआ, अपने परिणामों का करने वाला और भोगने वाला भी होता है।

जिस समय समस्त वैभाविक भावों से उत्तीर्ण या रहित होकर वह पुरुष निष्कंप (अचल) चैतन्य स्वभाव को प्राप्त होता है, उस समय समीचीन पुरुषार्थ सिद्धि – पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि को पाता हुआ वह कृतकृत्य (धन्य) हो जाता है।

पुरुष (आत्मा) के अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि (सफलता), बिना पुरुषार्थ के संभव नहीं है। हर पुरुष सफलता का स्वाद चखना चाहता है, किन्तु उपाय न सभी को मिलता है और न सभी उन उपायों को अपना पाते हैं। अतः आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव का यह महान उपकार माना जायेगा कि उन्होने पुरुषार्थसिद्धि के उपायों से हम संसारियों को परिचित कराया।

पुरुषार्थसिद्धि सम्भव है –

'गोम्मटसार जीवकांड' में आया है कि –

पुरुगुणभोगेसेदे करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं।
पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो।।[3]

अर्थात् पुरुष ही संसार में सर्वोत्तम कार्य कर सकता है, वही कर्म को नष्ट करके सर्वोत्तम गुणों का विकास कर सकता है। 'पुरुष' शब्द की सार्थकता वहीं होती है जहाँ आत्मा पुरुष पर्याय में रहकर, स्वकीय पौरुष से ध्येयरूप मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त होकर, शुद्ध वीतराग सर्वज्ञ-पुरुष-पद में पहुँच जाता है।

यदि परमपद में स्थित होना है तो जिनमार्ग ही शरण है; कहा भी है –

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर!।।[4]

आचार्य कहते हैं कि –

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।[5]

अर्थात् यदि तू जिनमत में प्रवृत्ति करना चाहता है तो व्यवहार और निश्चय, इन दोनों नयों को मत छोड़। यदि व्यवहार नय को छोड़ देगा, तो उसके बिना व्रत, संयम, दान, पूजा, तप, आराधना, सामायिक आदि समस्त उत्तम एवं मोक्ष-साधक धर्म नष्ट हो जायेगा। तथा निश्चय नय छोड़ देने से शुद्ध तत्त्वस्वरूप का कभी बोध नहीं हो सकेगा। इसलिए साध्य-साधक दृष्टि से दोनों नयों का अवलम्बन वस्तुस्वरूप का परिचायक है। विवक्षावश दोनों में मुख्य-गौण विवेचना की जाती है।

'सन्मति सूत्र' में छह मान्यताएं सम्यक् रूप मानी गयी हैं –

अत्थि अविणासधम्मी करेइ वेएइ अत्थि निव्वाणं।
अत्थि य मोक्खोवायो छस्समत्तस्स ठाणाइं।।[6]

अर्थात् ये छह मान्यताएं सम्यक् रूप मानी गयी हैं – 1. आत्मा है, 2. अविनाशी स्वभाव वाला है, 3. कर्त्ता है, 4. वेदक (ज्ञान युक्त) है, 5. मोक्ष है, और 6. मोक्ष का उपाय है।

पुरुष के पुरुषार्थ में कैसा व्यवहार होना चाहिए, इस विषय में कहा गया है –

जं इच्छसि अप्पणतो जं च ण इच्छसि उप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या एत्तियगं जिणसासणं।।

अर्थात् जो तुम स्वयं के लिए चाहते हो, और जो कुछ नहीं चाहते हो, उसको तुम दूसरे के लिये भी (क्रमशः) चाहो, और न चाहो, इतना ही जिनशासन है।

जब तक पुरुष अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँचता है तब तक उसे पुरुषार्थ

करना चाहिए। मार्ग में विराम नहीं, विराम तो लक्ष्य पर पहुँचकर ही लेना चाहिए। किसी हिन्दी कवि ने ठीक ही कहा है –

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्त भवन में टिक रहना।
बल्कि पहुँचना उस सीमा तक, जिसके आगे राह नहीं है।

जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक भाव –

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के अनुसार –

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन।।[7]

अर्थात् जीव द्वारा किये गये रागद्वेषादिक विभाव-भाव का निमित्तमात्र पाकर जीव से भिन्न जो पुद्गल हैं वे इस आत्मा में अपने आप ही कर्म रूप से परिणमन करते हैं। अर्थात् पुद्गल द्रव्य की ही कर्मपर्याय होती है, जीव के विभाव भाव उसमें निमित्त मात्र पड़ते हैं।

कर्म और जीव में निमित्त-नैमित्तिक भाव –

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अनुसार–

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।।[8]

अर्थात् निश्चय करके अपने चेतनस्वरूप रागादिपरिणामों से अपने आप ही परिणमन करने वाले इस जीव के भी पुद्गल के विकाररूप कर्म निमित्त मात्र होते हैं।

संसार परिभ्रमण के कारण –

यह आत्मा संसार में भटकती रहती है; इसका कारण क्या है? इस विषय में 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में बताया है कि –

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्।।[9]

अर्थात् इस प्रकार यह जीव कर्मकृत रागादिक एवं शरीरादिक भावों से सहित नहीं है तो भी अज्ञानियों को उन भावों से सहित सरीखा मालूम होता है, वह प्रतिभास – समझ व प्रतीति निश्चय से संसार का कारण है।

पुरुष की सिद्धि पुरुषार्थ से होती है। हमारी संस्कृति में पुरुषार्थ चार माने गये हैं – 1. धर्म 2. अर्थ 3. काम 4. मोक्ष। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इन चारों पुरुषार्थों का वर्णन मिलता है, जो इस प्रकार है –

1. धर्म पुरुषार्थ –

धर्म को प्रथम पुरुषार्थ माना गया है क्योंकि यह चतुर्थ मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि में सहायक बनता है। यद्यपि अर्थ और काम का संबंध संसार से है, लेकिन यदि वे भी धर्म-सम्मत हैं तो पुरुषार्थ की श्रेणी में आते हैं; मोक्षप्राप्ति में सहायक बन जाते हैं। अतः यह मानना चाहिए कि बिना धर्म से सम्बन्ध हुए कोई भी कार्य पुरुषार्थ की श्रेणी में नहीं आयेगा।

धर्म पुरुषार्थ के लिये मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के उपरान्त जिसने समीचीन ज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा पुरुष सम्यक्चारित्र पथ को अंगीकार करता है। वह मद्य, मांस, मधु एवं पंच उदुम्बर फलों को त्याग कर अष्टमूलगुणों का पालन करता है। जो अष्टमूलगुणों का पालन करता है, वही धर्मोपदेश का पात्र है –

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।[10]

अर्थात् इन आठ अनिष्ट, कठिनता से छूटने वाले और पापों की खान स्वरूप पदार्थों को छोड़कर ही शुद्ध बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्म के उपदेश को ग्रहण करने के पात्र होते हैं।

धर्म पुरुषार्थी श्रावक त्रस हिंसा का त्याग करता है और निरर्थक स्थावर हिंसा का भी त्याग करता है। धर्म अहिंसामय है। धर्मार्थ हिंसा भी पाप है –

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः।।[11]

अर्थात् भगवान् का बताया हुआ धर्म सूक्ष्म है। 'धर्म के लिए हिंसा करने में दोष नहीं हैं' इस प्रकार धर्म में मूढ़बुद्धि रखने वाले हृदयसहित बनकर कभी प्राणी नहीं मारने चाहिए।

इस प्रकार की विचारधारा के साथ वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पाँच पापों का त्याग करता हुआ व्रताचरण करता है। रात्रिभोजन एवं अनछने जल के सेवन का त्याग करता है। देवपूजा आदि छह आवश्यकों का पालन करता

है और श्रावकोचित बारह व्रतों का पालन करता हुआ, कालान्तर में महाव्रतों को धारण कर 28 मूलगुणों का पालन करता हुआ, रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त होने पर मोक्ष को प्राप्त करता है।

गृहस्थों को मुनिपद धारण करना चाहिए; इस विषय में 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कहा है कि–

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्।।[12]

अर्थात् सदा प्रयत्नशील गृहस्थ के द्वारा रत्नत्रय की प्राप्ति का समय पाकर और मुनियों के पद को धारण करके शीघ्र ही परिपूर्ण (संपूर्ण) करना चाहिए अर्थात् अंतिम लक्ष्य मोक्ष पाना चाहिए।

2. अर्थ पुरुषार्थ –

गृहस्थ बिना अर्थ के शोभा एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता है, अतः उसे न्याय-नीतिपूर्वक धन उपार्जन करना चाहिए। अर्थ को बाह्य प्राण माना गया है; इस विषय में आचार्य अमृतचन्द्रजी ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कहा है कि –

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्।।[13]

अर्थात् जितने भी धन-धान्य आदि पदार्थ हैं ये पुरुषों के बाह्य प्राण हैं। जो पुरुष जिसके धन-धान्य आदि पदार्थों को हरण करता है वह उसके प्राणों का नाश करता है।

अर्थ पुरुषार्थी को चोरी नहीं करना चाहिए। वह अचौर्यव्रती होता है। इस विषय में 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कहा है कि दूसरों के द्वारा स्वीकार किये गए द्रव्य के ग्रहण करने में प्रमादयोग अच्छी तरह घटता है, इसलिए वहाँ हिंसा होती ही है।[14] इसलिये चोरी छोड़ना चाहिए –

असमर्था ये कर्त्तुं निपानतोयादिहरण विनिवृत्तिं।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यं।।[15]

अर्थात् जो पुरुष कूपजल आदि के हरण करने की निवृत्ति करने में असमर्थ हैं उन पुरुषों के द्वारा भी दूसरा समस्त बिना दिया हुआ द्रव्य सदा छोड़ देना चाहिए। अर्थ पुरुषार्थी को सदृश वस्तुओं में उलटफेरकर मिला देना (मिलावट),

चोरी का उपाय बताना, चोरी का अपहरण किया हुआ द्रव्य ग्रहण करना, राज्य के नियमों का उल्लंघन करना, थोड़ा देना, अधिक लेना भी नहीं करना चाहिए।[16] धनादि के सीमांकन द्वारा आसक्ति कम करना उचित है –

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्।।[17]

अर्थात जो कोई भी धन, धान्य, मनुष्य, घर, द्रव्य आदि छोड़ने के लिए नहीं समर्थ हैं, उन्हें भी परिग्रह कम करना चाहिए क्योंकि तत्त्वस्वरूप निवृत्तिरूप है।

अर्थ प्राप्ति के लिए जुआ खेलना उचित नहीं है। इसे अनर्थों में पहला, संतोषवृत्ति को नष्ट करने वाला, माया का घर, चोरी और झूठ का स्थान मानते हुए दूर से ही छोड़ देना चाहिए –

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात् परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्।।[18]

अर्थ के प्रति आसक्ति हटाने के लिए आचार्यों ने कहा है कि– अर्थमनर्थं भावय नित्यं।

3. काम पुरुषार्थ –

राजवार्तिककार अकलंकदेव के अनुसार –

"सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते"।[19] अर्थात् सातावेदनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से कन्या का वरण करना विवाह कहा जाता है।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि जिस कन्या का एक बार विवाह हो चुका है, वह चाहे परित्यक्ता हो या विधवा, उसका पुनर्विवाह जैनागमानुकूल नहीं है।

काम का लक्ष्य भोग नहीं अपितु संतानोत्पत्ति मानी गयी है। गृहस्थों के लिए स्वस्त्री-परिमाण, स्वपति-परिमाण व्रत बताया गया है। जिस समय विवाह संस्कार सम्पन्न होता है उसी समय वर एवं कन्या से वचन लिया जाता है कि वे एक-दूसरे के अतिरिक्त सभी के प्रति माता-पुत्र, भाई-बहिन और पिता-पुत्रीवत् संबंध रखेंगे। इस तरह विवाह के समय ही स्वस्त्री-ब्रह्मचर्याणुव्रत की स्थिति बन जाती है।

आचार्य अमृतचन्द्रजी ने मैथुन में हिंसा[20] मानी है। अतः ब्रह्मचर्य को श्रेयस्कर माना है। वे अनंगरमण का निषेध करते हैं –

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्।।[21]

अर्थात जो भी कुछ काम के प्रकोप से अनंगक्रीड़न आदि किया जाता है वहाँ पर भी रागादिक की उत्पत्ति प्रधान होने से हिंसा होती है, अतः कुशील का त्याग करना चाहिए।

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्।।[22]

4. मोक्ष पुरुषार्थ –

आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में कहा है कि –

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।[23]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। मोक्ष की प्राप्ति रत्नत्रय से होती है; इस विषय में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में बताया गया है कि–

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण।।[24]

अर्थात् जो अपने हित के चाहने वाले पुरुष इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र; इन तीनों स्वरूप मोक्षमार्ग में निरन्तर प्रयत्न करते हैं वे शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के अनुसार ही –

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्।।
नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः।।[25]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण वाला, इस प्रकार रत्नत्रय रूप यह मोक्षमार्ग मुख्य और उपचार स्वरूप पुरुष-आत्मा को उत्कृष्ट पद

(मोक्ष) को प्राप्त करा देता है। सदा ही कर्मरज से रहित, अपने निजरूप में भले प्रकार ठहरा हुआ, उपघातरहित अर्थात् जो किसी से घाता न जाय, अत्यन्त निर्मल ऐसा उत्कृष्ट पुरुष परमात्मा आकाश के समान उत्कृष्ट पद में, लोक शिखर के अग्रतम स्थान में अथवा उत्कृष्ट स्थान जिनस्वरूप के पूर्ण विकास में स्फुरायमाण होता है।

रत्नत्रय को मोक्ष का कारण बताते हुए कहा है कि –

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।[26]

अर्थात् इस लोक में अथवा इस आत्मा में रत्नत्रय निर्वाण का ही कारण होता है और किसी का – बंध का नहीं।

पुरुषार्थसिद्धि का उपाय

पुरुष के पुरुषार्थ का प्रारंभ मिथ्यात्व के निरसन से होता है। मिथ्यामार्ग को छोड़कर सन्मार्ग का अवलम्बन पुरुष कर सकता है क्योंकि उसके पास बुद्धि एवं विवेक होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धि का उपाय इस रूप में बताया है –

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।[27]

अर्थात् विपरीत श्रद्धान को दूरकर अपने स्वरूप को अच्छी तरह समझकर जो उस निज स्वरूप से चलायमान नहीं होना है; वह ही पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय है।

पं. टोडरमल जी ने संसाररूपी वृक्ष का मूल मिथ्यात्व मानकर उसका निर्मूलन करने की प्रेरणा दी है –

इस भवतरु का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताको करि निर्मूल अब, ये ही मोक्ष उपाव।।

मिथ्यात्व का भंजन होने पर रत्नत्रय-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। अतः 'रत्नत्रय' की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करना पुरुष का कर्तव्य है। आचार्य अमृतचन्द्रदेव कहते हैं कि –

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति।।
तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च।।[28]

अर्थात् इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष का मार्ग सदा उस उपदेश ग्रहण करने वाले पात्र को भी अपनी शक्ति के अनुसार सेवन करने योग्य होता है। उन तीनों में पहले सम्पूर्ण प्रयत्नों से सम्यग्दर्शन भले प्रकार प्राप्त करना चाहिये क्योंकि उस सम्यग्दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

इस तरह पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र देव ने पुरुष (आत्मा) के उत्थान हेतु, उसे कर्मरज से रहित बनाने के लिये पुरुषार्थ की सम्यक् संसिद्धि की है। मनुष्य गति में आकर जो व्यक्ति इन पुरुषार्थों को करता हुआ धर्ममय जीवन जीता है, वह अंत में मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करता है और संसार में रहते हुए भी अर्थ एवं काम पुरुषार्थ को प्राप्त होता है। अतः मानव जीवन में पुरुषार्थ चतुष्टय का होना आवश्यक है।

संदर्भ

1. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : आचार्य अमृतचन्द्र, 9
2. वही, 10–11
3. गोम्मटसार जीवकांड : आचार्य नेमिचन्द्र, गा० 273
4. दर्शनपाठ, श्लोक संख्या 8
5. समयसार, गा० 12 की आत्मख्याति टीका में उद्धृत।
6. सन्मतिसूत्र, 3/55
7. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय - 12
8. वही–13
9. वही–14
10. वही–74
11. वही–79
12. वही–210
13. वही–103
14. वही–104
15. वही–106
16. वही–185

17. वही–128
18. वही–146
19. राजवार्तिक : अकलंकदेव; 7-28-1
20. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय–108
21. वही–109
22. वही–110
23. तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य उमास्वामी; 1/1
24. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय–135
25. वही–222, 223
26. वही–220
27. वही–15
28. वही–20, 21

मंत्री - अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्
एल-65, न्यू इंदिरा नगर, बुरहानपुर (म. प्रदेश)

मोक्षमार्ग में 'नियति' प्रधान है कि पुरुषार्थ?

— बाबूलाल जैन

1. 'नियति' का प्रतिपादक : नियतिवाद

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने चौदह गाथाओं (876–889) द्वारा तीन सौ तिरेसठ एकान्तमतों का संक्षिप्त निरूपण किया है। उसी प्रकरण के अन्तर्गत वे नियतिवाद नामक मान्यता का कथन इस प्रकार करते हैं :

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु।। 882।।

अर्थ : 'जो (कार्य), जब (जिस काल में), जिस (निमित्त) के द्वारा, जिस प्रकार से, जिस (पदार्थ) का नियम से होना होता है; वह (कार्य) तभी (उसी काल में), उसी (निमित्त) के द्वारा, उसी प्रकार से, उस (पदार्थ) का होता है' — ऐसा मानना नियतिवाद है।

इसी प्रकार का निरूपण *प्राकृत पंचसंग्रह* में तथा आचार्य अमितगति के (संस्कृत) *पंचसंग्रह* में भी पाया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्य एकान्तवादों की तरह ही नियतिवाद भी एक ऐकान्तिक, मिथ्या मान्यता है।

2. आगम में उल्लिखित 'पंचहेतु–समवाय'

जीव के कार्य की उत्पत्ति के विषय में स्वभाव, निमित्त, पुरुषार्थ, काललब्धि और नियति — ये पाँच हेतु आगम में कहे गए हैं, जैसा कि आचार्य सिद्धसेन *सन्मतिसूत्र* के तृतीय 'अनेकान्त' काण्ड में लिखते हैं :

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव उ समासओ होंति सम्मत्तं।। 53।।[1]

अर्थ : काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत, और पुरुष यानी पुरुषार्थ, इन पाँच कारणों या हेतुओं में से अकेले किसी एक से कार्य के निष्पन्न होने की मान्यता ऐकान्तिक है, मिथ्या है; जबकि इन पाँचों के समास, समग्रता अथवा सम्मेल को

— परस्पर सापेक्षतामय सम्यक् मेल को — हेतु मानना अनैकान्तिक है, सही है।

ऊपर की गाथा संसारी जीव के किसी भी कार्य की उत्पत्ति के बारे में है। संशय के परिहारार्थ, उचित होगा कि लेख के प्रारम्भ में ही 'जीव के कार्य की आगम–सम्मत क्या परिभाषा या अवधारणा (concept) है?' इस बात को स्पष्ट कर लिया जाए।

2.1 जीव का कार्य

समयसार की *आत्मख्याति* टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं : **यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत् तु तत्कर्मः** (कलश सं० 51, पूर्वार्द्ध), अर्थात् जो परिणमित होता है वह 'कर्ता' है; (परिणमित होने वाले या परिणमन करने वाले का) जो परिणाम है वह उसका 'कर्म' अथवा कार्य है। इस प्रकार, किसी पदार्थ का निज परिणाम ही उसका कार्य कहलाता है। यहाँ कर्ता (परिणामी/उपादान) एवं उसका परिणाम/कार्य, दोनों सदा एक ही द्रव्य में होते हैं। निश्चयनय की विषयभूत, इस परिभाषा के अनुसार किसी भी जीव के अंतरंग चेतन परिणाम ही उसके 'कार्य' कहलाएंगे। यदि पहले दस गुणस्थानों के जीवों के सन्दर्भ में विचार करें तो :

(क) श्रद्धा गुण के विपरीत परिणमन से हो रहे अविद्यात्मक परिणाम (अथवा तत्त्वप्राप्ति के साथ होने वाले, दर्शनमोहनीय के उपशम/क्षयोपशमादि–सापेक्ष, सम्यग्दर्शनात्मक परिणाम);

(ख) चारित्र गुण के विकारी परिणमन से हो रहे कषाय–नोकषायात्मक परिणाम (अथवा द्रव्यसंयमपूर्वक भावसंयम की प्राप्तिस्वरूप, चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम/उपशम–सापेक्ष सम्यक्चारित्रात्मक परिणाम); तथा

(ग) मतिश्रुतादिज्ञानावरण के क्षयोपशम–सापेक्ष मतिश्रुतादि–ज्ञानरूपी परिणाम — ये सभी परिणाम अशुद्धनिश्चयनय से जीव के 'कार्य' कहे जाएंगे।[2]

अन्यत्र, जहाँ निमित्तरूप जीवद्रव्य को 'कर्ता' कहा जाता है, तथा एकक्षेत्रावगाही पुद्गल पदार्थ के परिणाम को नैमित्तिक/कार्य कहा जाता है, वहाँ अनुपचरित–व्यवहारदृष्टि से ऐसा कहा जाता है। अतएव चेतन परिणामों के निमित्त कारण से (क) अन्तरंग में प्रतिसमय होने वाला आठ कर्मों का बन्ध, और (ख) बहिरंग में होने वाले वचन–काय के व्यापारादिक भी इस दृष्टि से उस जीव के ही कार्य कहे जाएंगे।[3,4]

उक्त दृष्टि की अपेक्षा स्थूलतर, तीसरी उपचरित–व्यवहारदृष्टि है जिसके अनुसार (क) स्वयं से भिन्नक्षेत्रावगाही चेतन अथवा जड़ पदार्थों की

घट–पटादि पर्यायों को, जिनके होने में यह जीव निमित्त होता है, तथा (ख) परिग्रह–परिवारादिक के संयोग–वियोगों को भी — जिन्हें यह जीव अपने प्रयत्न एवं शुभाशुभ कर्मोदय के अनुसार प्राप्त करता है जीव के 'कार्य' कहा जाता है।[4]

2.2 पंचहेतुओं की परिभाषा

अब, *सन्मतिसूत्र* की उपर्युक्त गाथा पर लौटते हुए, उसमें उल्लिखित पाँच हेतुओं में से प्रत्येक की क्या परिभाषा या अवधारणा जिनागम में प्रतिपादित की गई है — इस पर विचार करते हैं :

2. 21 पुरुषार्थ : संस्कृत कोश के अनुसार 'पुरुषार्थ' शब्द दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। प्रथम अर्थ है : लक्ष्य, जिसके लिये मनुष्य प्रवृत्ति करता है।[5,6] इसी अर्थ में पुरुषार्थ के चार सुप्रसिद्ध भेद किये जाते हैं : धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष (*भगवती आराधना*, गा० 1813–14; *ज्ञानार्णव*, 3/4)। परन्तु यह अर्थ उक्त गाथा में अभिप्रेत नहीं है; जो अभिप्रेत है, वह है द्वितीय अर्थ : मानव द्वारा किया जाने वाला **यत्न, प्रयत्न या चेष्टा**।[7] इस तरह, हम देखते हैं कि ये दोनों अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं : पहला 'लक्ष्य' को जताता है तो दूसरा 'लक्ष्य के लिये किये जाने वाले प्रयत्न' को। इस द्वितीय अर्थ में 'पुरुषार्थ' के अलावा, 'पौरुष'[8] एवं 'पुरुषकार'[9] शब्द भी जैन एवं जैनेतर साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। *आप्तमीमांसा* की भट्ट अकलंकदेवकृत व्याख्या *अष्टशती* में, यह परिभाषा मिलती है : **पौरुषं पुनरिह चेष्टितम्** अर्थात् चेष्टा करना पुरुषार्थ है।[10] चूँकि आचार्य विद्यानन्दि ने *अष्टशती* को अपनी टीकाकृति में पूरी तरह आत्मसात् कर लिया है, अतः *अष्टसहस्री* में भी यही परिभाषा मौज़ूद है।[11] *आप्तमीमांसावृत्ति* में आचार्य वसुनन्दि ने **पौरुषं मनोवाक्कायव्यापारलक्षणम्** अर्थात् मन, वचन, काय के व्यापार अथवा प्रयास को पुरुषार्थ कहा है।[12] अमृतचन्द्राचार्य *प्रवचनसार* की टीका में कहते हैं : **आत्मद्रव्य, पुरुषकार नय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है, ऐसा है**।[13]

इन उद्धरणों से सुस्पष्ट है कि प्रकृत गाथा में उल्लिखित पाँचवें हेतु का अभिप्रेतार्थ है : चेष्टा, यत्न/प्रयत्न (effort), अथवा दृष्ट ('अदृष्ट' या 'दैव' के प्रतिपक्षी के अर्थ में)। परन्तु खेद का विषय है कि महान आचार्यों द्वारा दी गई उपर्युक्त स्पष्ट एवं प्रामाणिक परिभाषा की अवहेलना करके, कुछ लोग मल्लिषेणसूरि के *स्याद्वादमंजरी* नामक ग्रन्थ में मुक्त जीवों के विषय में किये गए एक कथन का आश्रय लेकर (जो कथन, वहाँ वैशेषिकमत की मान्यता का निरसन करने के प्रयोजनवश, ***मात्र उपचार से*** किया गया है),[14] आजकल

एक नई परिभाषा गढ़ने में लगे हैं कि "वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम ही पुरुषार्थ है।" (आगे चलकर, अनुच्छेद 10 में हम देखेंगे कि आर्ष आचार्यों के अनुसार 'वीर्यान्तराय का क्षयोपशम' वास्तव में 'पुरुषार्थ' की परिभाषा कदापि नहीं है, बल्कि 'योग्यता' की परिभाषा का एक अंश मात्र है।)

2.22 स्वभाव : इस हेतु का तात्पर्य कुछ लोग जीव का त्रैकालिक स्वभाव समझ लेते हैं, परन्तु ऐसा समझना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि वह पारिणामिक भाव तो त्रिलोकवर्ती समस्त जीवों के लिये सदाकाल एक–सदृश है, फिर वह विभिन्न संसारी जीवों के विभिन्न कार्यों में विविधरूप से हेतु कैसे हो सकेगा? दूसरे शब्दों में कहें तो 'त्रैकालिक स्वभाव' को उक्त पंचहेतुओं में गिनने पर अतिरेक–दोष (redundance) का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा।

खोज करने पर, इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि 'स्वभाव' का जो अर्थ यहाँ अभिप्रेत है, वह है : संस्कार। संसारी प्राणी के जीवन की समस्त शुभ–अशुभ प्रवृत्तियां उसके संस्कारों के अधीन घटित होती हुई देखी जाती हैं, जिनमें से कुछ यह जीव पूर्वभव से अपने साथ लाता है, और कुछ को इसी भव में संगति एवं शिक्षा आदि के प्रभाव से उत्पन्न एवं संचित करता है। *सिद्धिविनिश्चय* में भट्ट अकलंकदेव और उनके टीकाकार आचार्य अनन्तवीर्य कहते हैं : **वस्तुस्वभावोऽयं यत् संस्कारः स्मृतिबीजमादधीत;**[15] **संस्काराद् वासनापरनाम्नः**[16] अर्थात् जीव–वस्तु का (वैभाविक) स्वभाव ही संस्कार है जिसको स्मृति का बीज माना गया है; संस्कार और वासना, ये दोनों समानार्थक हैं। *प्रमेयकमलमार्तण्ड* में आचार्य प्रभाचन्द्र लिखते हैं : **संस्कारः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो धारणा;**[17] **संस्कारश्च कालान्तराविस्मरण–कारणलक्षणधारणारूपः**[18] अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का भेदभूत जो धारणा है उसी का नाम संस्कार है; और कालान्तर में विस्मरण न होने देने का कारण भी यही संस्कार है।[19]

इन संस्कारों को मुख्यतः तीन कोटियों में रखा जा सकता है : अविद्या–अज्ञान के संस्कार, राग–द्वेष के संस्कार, और शिक्षा–अध्ययन आदि से उत्पन्न किये गए संस्कार। अन्तिम कोटि के पुनः दो भेद किये जा सकते हैं; एक, लौकिक शिक्षा, और दूसरे, तत्त्वज्ञान के संस्कार। अविद्या–अज्ञान–मिथ्यात्व के संस्कार तो हम सभी संसारी जीव अनादि काल से ही उत्पन्न करते आ रहे हैं, जैसा कि आचार्य पूज्यपाद *समाधिशतक* में कहते हैं : "चूँकि बहिरात्मा इन्द्रियरूपी द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता है, इसलिये देह को ही आत्मा समझता है। मनुष्य देह में स्थित आत्मा को मनुष्य, और तिर्यंच देह में स्थित आत्मा को तिर्यंच, इत्यादि समझता

है। अपने शरीर के समान दूसरे के शरीर को देखकर, उसे पर का आत्मा मानता है। इस विभ्रम के पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से अविद्या नामक संस्कार अथवा वासना इतनी दृढ़ हो जाती है कि उसके कारण यह अज्ञानी जीव जन्म–जन्मान्तर में भी शरीर को ही आत्मा मानता है।"[20]

चूँकि कषाय या राग–द्वेष का मूल कारण अविद्या ही है; अतः राग–द्वेष के संस्कारों को भी हम सभी अनादिकाल से बारम्बार पुष्ट करते चले आ रहे हैं, जिसके कारण वे रागद्वेषादिक हमारे 'स्वभाव' बन गए हैं; जैसा कि आचार्य जयसेन ने कहा है : **कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽपि अशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते** अर्थात् कर्मबद्ध जीव के प्रकरण में, रागादिक परिणाम भी अशुद्धनिश्चयनय से जीव के 'स्वभाव' कहे जाते हैं।[21] आचार्य अमृतचन्द्र के ये शब्द भी द्रष्टव्य हैं : **इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधि–सन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति** अर्थात् इस विश्व में अनादि कर्मपुद्गल की उपाधि के सन्निधिप्रत्यय या निमित्तकारण से होने वाला विवर्तन जिसके प्रतिक्षण होता रहता है, ऐसे संसारी जीव की वह विवर्तन, विपरिणमन या विभावरूप क्रिया वास्तव में स्वभाव–निष्पन्न ही है।[22] पुनश्च, अनन्तानुबन्धी कषायों के सन्दर्भ में आचार्य वीरसेन *धवला* में कहते हैं : **एदेहि जीवम्हि जणिदसंसकारस्स अणंतेसु भवेसु अवट्ठाणब्भुवगमादो** अर्थात् इन कषायपरिणामों के द्वारा जीव में उत्पन्न हुए **संस्कारों** का **अनन्तभवों में अवस्थान** माना गया है।[23]

उपर्युक्त अज्ञानात्मक संस्कारों के विपरीत, जब यह जीव सम्यग् उपदेश को पाकर "स्व–पर भेदविज्ञान का पुनः पुनः अभ्यास करता है तब ज्ञान के उन संस्कारों के द्वारा स्वतः स्वतत्त्व को प्राप्त हो जाता है" (*समाधिशतक*, श्लोक 37, उत्तरार्द्ध)। "विनयपूर्वक अध्ययन किये गए श्रुत के संस्कार भवान्तर में भी साथ जाते हैं।"[24] "नरकादि भवों में जहाँ उपदेश का अभाव है, वहाँ पूर्वभव में धारण किये हुए तत्त्वार्थ के संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।"[25] पुनश्च, "सम्यग्दृष्टि मनुष्य जब चारित्रमोह के उदय से शुद्धात्मभावना भाने में असमर्थ होता है, तब वह परमात्मस्वरूप अर्हन्त–सिद्धों के गुणानुवादरूप परम भक्ति करता है। ... पश्चात् पंचमहाविदेहों में जाकर समवशरणादिक को देखता है। ... पूर्व जन्म में भावित विशिष्ट भेदज्ञान की वासना या संस्कार के बल से मोह नहीं करता, अतः जिनदीक्षा धारण करके परम आत्मध्यान के द्वारा मोक्ष जाता है।"[26] निष्कर्ष यह कि जो ज्ञानात्मक संस्कार हैं "वे ज्ञान से उत्पन्न होते हुए, कालान्तर में ज्ञान के कारण भी होते हैं।"[27]

इस प्रकार, हम पाते हैं कि प्रकृत गाथा में 'स्वभाव' का अभिप्राय वास्तव

में जीव की वर्तमान स्थूल या व्यंजन पर्याय में होने वाले उसके विभिन्न संस्कारों अथवा वृत्तियों/रुझानों/झुकावों (proclivities/ tendencies) से है।

2.23 पूर्वकृत : संसारी जीव के सन्दर्भ में विचार करें तो अन्तरंग और बहिरंग के भेद से निमित्त दो प्रकार के होते हैं,[28] अतः 'पूर्वकृत' या वर्तमान कर्मोदय को अन्तरंग निमित्त में गर्भित किया जा सकता है। 'दैव' या 'अदृष्ट' को भट्ट अकलंकदेव व आचार्य विद्यानन्दि ने 'पूर्वकृत' का पर्यायवाची बतलाया है।[29]

ध्यान देने योग्य है कि 'पूर्वकृत' शब्द से यह भी ध्वनित होता है कि दैव भी जीव की पूर्वभव या परलोक में की गई चेष्टाओं का ही प्रतिरूप है। यही कारण है कि उक्त आचार्यद्वय की ऊपर उद्धृत की गई 'पुरुषार्थ' की परिभाषाओं में 'इह' शब्द आया है; जिसका अभिप्राय है कि इहलोक में की गई चेष्टा 'पुरुषार्थ' कहलाती है (इसीलिये उसे 'दृष्ट' भी कहा गया है); जबकि पूर्वभव/परलोक में की गई चेष्टा ही 'दैव' है; इसीलिये उसे 'पूर्वकृत' संज्ञा दी गई है और 'अदृष्ट' भी कहा गया है।[30] लौकिक क्षेत्र में — जहाँ शुभ या अशुभ कर्मोदय को अभीष्ट की सफलता या विफलता में मुख्य हेतु माना गया है[31] — ***पूर्वकृत, कर्मोदय या दैव की प्रबलता को आचार्यों द्वारा 'भवितव्यता' भी कहा गया है।*** स्वामी समन्तभद्र ने *आप्तमीमांसा* की चार कारिकाओं (88–91) में दैव और उसके प्रतिपक्षी पुरुषार्थ के अनेकान्त का विवेचन किया है। भट्ट अकलंकदेव ने कारिका 89 की टीका करते हुए, 'अदृष्ट' को बिल्कुल स्वीकार न करने वाले चार्वाक् आदि की ऐकान्तिक मान्यता के निरसन के प्रयोजनवश, 'भवितव्यता' के समर्थक एक श्लोक को इतिहास–प्रसिद्ध चाणक्य की नीतिविषयक पुस्तक *चाणक्यनीतिदर्पणम्* से *अष्टशती* में उद्धृत किया है;[32] जिससे सुस्पष्ट है कि अकलंकदेव एवं (उनकी टीकाकृति को अपनी अष्टसहस्रश्लोकप्रमाण व्याख्या में पूर्णतः अन्तर्भूत कर लेने वाले) आचार्य विद्यानन्दि के मतानुसार[33] 'भवितव्यता' और 'दैव', दोनों एकार्थवाची हैं। कोश के अनुसार भी, fate/destiny,[34] प्रारब्ध/भाग्य/होनी[35] और भवितव्यता समानार्थक हैं। पुनश्च, स्वामी समन्तभद्र ने *स्वयम्भूस्तोत्र* (7–3) में जो "अलंघ्यशक्तिः भवितव्यता" कहा है, वहाँ भी भवितव्यता का अभिप्रेतार्थ दैव, कर्म, अदृष्ट अथवा भाग्य की प्रबलता ही है; जैसा कि 'तत्त्वप्रदीपिका' व्याख्या में स्पष्ट किया गया है।[36]

2.24 काललब्धि : अब 'काल' अथवा 'काललब्धि' के विषय में प्रकृत सन्दर्भ में (यानी मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में) विचार करते हैं। *षट्खण्डागम,* 'जीवस्थानखण्ड' की आठवीं चूलिका प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के विषय में है। उसके

तीसरे सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य वीरसेन कहते हैं : "इस सूत्र के द्वारा क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि, ये चारों लब्धियां प्ररूपित की गई हैं। ... प्रश्न : सूत्र में तो केवल एक काललब्धि ही प्ररूपित की गई है, उसमें इन चारों लब्धियों का होना कैसे सम्भव है? उत्तर : नहीं; क्योंकि प्रतिसमय अनन्तगुने हीन अनुभाग की उदीरणा का (अर्थात् क्षयोपशमलब्धि का), अनन्तगुणित क्रम द्वारा वर्धमान विशुद्धि का (अर्थात् विशुद्धिलब्धि का), और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का (अर्थात् देशनालब्धि का) [तथा तत्त्वचिंतवनरूप प्रायोग्यलब्धि का] एक काललब्धि में अन्तर्भाव हो जाता है।"[37]

ऐसा ही आशय आचार्य जयसेन द्वारा *पंचास्तिकाय* की टीका में व्यक्त किया गया है : "जब यह जीव आगमभाषा के अनुसार कालादिक लब्धिरूप और अध्यात्मभाषा के अनुसार शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदनज्ञान को प्राप्त करता है तब पहले मिथ्यात्वादि सात कर्मप्रकृतियों के उपशम होने पर, और फिर उनका क्षयोपशम होने पर सरागसम्यग्दृष्टि हो जाता है।"[38]

चूँकि मोक्षमार्ग की शुरुआत ही सम्यग्दर्शन से होती है, इसलिये आचार्यों के उपर्युक्त उद्धरणों से निष्कर्ष निकलता है कि मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में *'काललब्धि' कुछ और नहीं, प्रकारान्तर से 'क्षयोपशम' से लेकर 'करण' तक पाँचों लब्धियों के समुच्चय की, साधना द्वारा सम्प्राप्ति की अभिव्यक्ति मात्र है।*[39]

2.25 नियति : अब शेष रहा 'नियति' संज्ञक हेतु, सो 'मिथ्या नियति' की क्या परिभाषा है; यह तो ऊपर, प्रथम अनुच्छेद में एकान्त नियतिवाद की चर्चा के दौरान देख ही आए हैं। कोश में देखते हैं तो 'नियति' के अर्थों में वहाँ भाग्य/प्रारब्ध/भवितव्यता,[40] destiny/fate[41] को शामिल किया गया है। *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश* में भी प्रायः इसी दृष्टि को अपनाया गया है; 'नियति' शीर्षक के नीचे दिये गए विभिन्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत जिन–जिन उद्धरणों को संकलित किया गया है, उन सबके अवलोकन से तो यही निष्कर्ष निकलता प्रतीत होता है[42] — यदि ऐसा है, तो नियति और दैव/भाग्य एकार्थवाची ठहरते हैं!

न तो सन्मतिसूत्रकार ने कहीं 'नियति' को परिभाषित किया है, और न ही किन्हीं अन्य आर्ष आचार्य की रचना में 'नियति' की परिभाषा अभी तक देखने में आई है। तो भी, प्रकृत गाथा में कहे गए अन्य चार हेतुओं के साथ सम्यक् सापेक्षता को बनाए रखने वाली, 'नियति' की **जिनागम–सम्मत अवधारणा** क्या होनी चाहिये, इस पर आगे चलकर विचार करेंगे।

इस प्रकार, प्रस्तुत अनुच्छेद के सारांशस्वरूप, *सम्मइसुत्तं* (सन्मतिसूत्र)

की उपर्युक्त गाथा का तात्पर्य यह है कि जीवपदार्थ के किसी भी पर्यायरूपी कार्य के होने के सम्बन्ध में (चाहे वह कार्य लौकिक क्षेत्र में हो अथवा मोक्षमार्ग में), उक्त पाँचों हेतुओं का समास, सम्मेल अथवा समवाय होना चाहिये; इसी कारण इन्हें संक्षेप में 'पंच–समवाय' की संज्ञा भी दी गई है। यह भी स्पष्ट है कि यह गाथा संसारी जीवों में से केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों पर मुख्यतया लागू पड़ती है जिनमें कि बुद्धिपूर्वक चेष्टा, प्रयत्न या पुरुषार्थ करने की क्षमता पाई जाती है।

3. आधुनिक नियतिवादियों द्वारा पंच–समवाय का अनुप्रयोग

नियतिवाद के आधुनिक समर्थक भी उक्त पंचहेतुओं को जीव–सम्बन्धी कार्यव्यवस्था में कुछ इस प्रकार से घटाने का प्रयत्न किया करते हैं : "किसी पदार्थ में किसी भी क्षण परिणमन की जो योग्यता है, वह एक ही प्रकार की होती है, अन्यथा नहीं,[43] इसलिये 'स्वभाव' का तात्पर्य है, विवक्षित जीवद्रव्य की विवक्षित क्षण में जो पर्याय होने की है, उसका होना। उसी के अनुकूल वैसा ही 'निमित्त' अपनी योग्यता से वहाँ उपस्थित रहता है।[44] वह जीवद्रव्य उसी कार्य/पर्याय के लिये 'पुरुषार्थ' करता है। जो पर्याय उस क्षण प्रकट होनी थी, वही हुई सो 'नियति' है;[45] और वह कार्य/पर्याय अपने ही काल में होता है, सो ही 'काललब्धि' है।"

उक्त प्रकार से आधुनिक नियतिवादी अपनी मान्यताओं के अनुसार जीव की कार्योत्पत्ति के सन्दर्भ में पंच–समवाय का अनुप्रयोग (application) करते हैं। उनकी इन मान्यताओं की विस्तृत, आगमानुसारी परीक्षा तो आगे चलकर करेंगे; फिर भी, एक संक्षिप्त टिप्पणी यहाँ उपयुक्त होगी : प्रथम तो 'स्वभाव' का अर्थ जीव के विभिन्न संस्कार/रुझान या वृत्तियां हैं; जैसा कि आर्ष आचार्यों के अनेकानेक उद्धरणों से ऊपर स्पष्ट कर आए हैं। फिर भी, थोड़ी देर के लिये इस आपत्ति का स्थगन करके विश्लेषण करते हैं। यदि ऐसा माना जाता है कि "एक समय में एक ही पर्याययोग्यता होती है, अन्य नहीं;" तो फिर, वह योग्यता तो अवश्य प्रकट होगी ही (भला, उसके लिये जीव के पुरुषार्थ की भी फिर क्या अपेक्षा!) क्योंकि अगर वह योग्यता प्रकट न हुई तो द्रव्य ही अपरिणामी ठहर जाएगा, जो कि स्पष्टतया सिद्धान्तविरुद्ध होगा!!

इसलिये यदि "एक समय में एक ही पर्याययोग्यता होने का नियम" कल्पित किया जाता है तो 'स्वभाव' भी नियत हो गया और 'पुरुषार्थ' भी। इन्हीं

नियतिवादियों की एक अन्य मान्यता के अनुसार, चूँकि "निमित्त भी अपनी योग्यता से उसी समय वहाँ उपस्थित रहेगा," अतः 'निमित्त' भी नियत हो गया। "जिस काल में होने की थी, और जो पर्याय होने की थी; वह हुई," अतः 'काल' भी नियत हो गया और 'कार्य/भवितव्य' भी नियत हो गया। जब पाँचों ही समवाय इस प्रकार नियत हो गए, तब कार्यव्यवस्था का उक्त निरूपण यदि ऐकान्तिक नियतिवाद नहीं तो और क्या है?

4. परनिरपेक्ष द्रव्य–स्वभाव नियत है, जबकि परनिमित्तक द्रव्य–विभाव अनियत

प्रवचनसार की *तत्त्वप्रदीपिका* वृत्ति के अन्त में परिशिष्ट के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मद्रव्य का सैंतालीस नयों के द्वारा वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने 'नियतिनय' द्वारा आत्मद्रव्य का निरूपण इस प्रकार किया है : **नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि** ।26। अर्थ : आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप (अर्थात् चैतन्यस्वभावरूप) भासित होता है; जिसकी उष्णता स्वभाव से ही नियमित होती है, ऐसी अग्नि की भाँति। (यह परनिरपेक्ष या निमित्त–निरपेक्ष, नियत द्रव्य–स्वभाव को ग्रहण करने वाले 'नियतिनय' का कथन है।)

तदनन्तर, आचार्यश्री इसके प्रतिपक्षी नय द्वारा आत्मद्रव्य का निरूपण करते हैं : **अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि** ।27। अर्थ : आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियतस्वभावरूप (अर्थात् विभावरूप) भासित होता है; जिसकी उष्णता 'नियति' से नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति; अर्थात् जैसे पानी के अग्निरूपी निमित्त से होने वाली उष्णता अनियत होने से पानी अनियतस्वभाव वाला या उष्णतामय विभाव वाला भासित होता है। (जल को जब और जैसी तीव्र–मन्द अग्नि का संयोग मिलेगा; तदनन्तर ही, और उसी तीव्र–मन्द उष्णता के अनुरूप, जल गर्म होगा। इस प्रकार, यह परसापेक्ष या निमित्त–सापेक्ष, अनियत द्रव्य–विभाव को ग्रहण करने वाले 'अनियतिनय' का कथन है।)

आचार्य अमृतचन्द्र के इस कथन से सुस्पष्ट है कि आत्मद्रव्य का वैभाविक परिणमन नियत नहीं, प्रत्युत अनियत है, क्योंकि वह स्वभाव की भाँति पर–निरपेक्ष नहीं, बल्कि पर–सापेक्ष है; जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द *नियमसार*, गाथा 14–15 में बतलाते हैं कि जीवद्रव्य का समस्त वैभाविक/अशुद्ध परिणमन स्व–पर–सापेक्ष होता है। अब, 'पंचसमवाय' में से 'स्वभाव/संस्कार'

और 'पुरुषार्थ', दोनों चूँकि संसारी जीव के विभाव के ही दो भिन्न–भिन्न पहलू हैं, अतः उनके नियत होने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

यहाँ एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है : जब जीव का 'स्व' जो उपादान/पुरुषार्थ है वही अनियत है, तब 'पर' जो निमित्त है उसको (जो कि स्पष्टतः ही जीव से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ है) 'नियत' कहना भला कैसे युक्त हो सकता है? ध्यान देने योग्य है कि द्रव्यानुयोग का मूल सिद्धान्त ही यह है कि एक द्रव्य कदापि दूसरे द्रव्य के अधीन नहीं हो सकता। और, किसी भी निमित्तपदार्थ का अस्तित्व और परिणमन जीवपदार्थ के अस्तित्व से स्वतन्त्र ठहरा; तब फिर किसी जीवपदार्थ के विवक्षित कार्य/पर्याय के लिये किसी विवक्षित निमित्तपदार्थ की उपस्थिति नियत कैसे हो सकती है? निमित्त क्या उपादान का क्रीतदास है?

इस प्रकार, आगम के आलोक में निष्पक्ष रूप से विचार–विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि 'पंचसमवाय' में से 'स्वभाव', 'पुरुषार्थ' और 'निमित्त', इन तीनों हेतुओं का 'नियतपना' मानना किसी प्रकार भी युक्तियुक्त नहीं ठहरता। शेष दो हेतुओं के विषय में भी आगे चलकर विचार करेंगे।

5. अनियतिनय का विषयभूत पुरुषार्थ

ऊपर, अनुच्छेद 3 में जिसका ज़िक्र कर आए हैं ***वह नियतिवादी मान्यता ऐकान्तिक इसीलिये है चूँकि वह नियतिनय का प्रतिपक्षी जो अनियतिनय है, उसका विषयभूत अनियतस्वरूप जो जीव का पुरुषार्थ, उसकी तनिक भी सापेक्षता नहीं रखती।*** आलसी, निरुद्यमी लोग निजहितरूपी कार्य के मिथ्या नियतपने का सहारा लेकर मोक्ष–उपायरूप सम्यक् पुरुषार्थ का अनादर करते हैं; जबकि यह सर्वमान्य है कि मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ ही प्रधान है। अपने–अपने राग–द्वेष से प्रेरित हुए प्राणी संसार में तो पुरुषार्थ करने से, अपने राग (द्वेष) के विषयभूत पदार्थों के पीछे दौड़ने से (अथवा, उनसे दूर भागने से), जरा भी नहीं चूकते, परन्तु जब मोक्षमार्ग की बात आती है तो आत्मकल्याणरूपी कार्य के कथित नियतपने का आश्रय लेकर पुरुषार्थ से जी चुराते हैं; यह एक सर्वानुभूत सत्य है।

आधुनिक नियतिवाद के मूल में पड़ी है यह मान्यता कि "किसी पदार्थ की किसी समय में केवल एक पर्यायविशेष को प्रकट करने की ही योग्यता होती है जिसे कि पर्याययोग्यता कहते हैं।" आगे, विस्तार से विश्लेषण करने पर, देखेंगे कि जिनागम के अनुसार ऐसा वस्तुस्वरूप कदापि नहीं है। वस्तुतः किसी भी पदार्थ में, किसी भी समय अनेक रूप से परिणमन करने की योग्यता

होती है, हमारे विवक्षित कार्य के सन्दर्भ में वह पदार्थ चाहे उपादान हो अथवा निमित्त। जीवरूपी उपादान परिणमन करता है, वहाँ (1क) घाति–अघातिकर्मों के उदय, अनुदय, क्षयोपशमादिरूप **अन्तरंगनिमित्त** की अपेक्षा रहते हुए; (2) अपने **स्वभाव/संस्कारों/रुझानों** की सापेक्षतापूर्वक, नाना पर्याययोग्यताओं में से किसी को ***चुनकर;*** और (1ख) समुचित **बहिरंग निमित्त** (या निमित्तों) की निजानुकूल योग्यता का ***अवलम्ब लेकर;*** वह (3) ***विवक्षित परिणमन करने रूप*** **प्रयत्न** के द्वारा निजपर्याय/कार्यरूप परिणत होता है; (4) जिस कार्यरूप परिणत होता है, वही **भवितव्य** है, और (5) जिस समय होता है वही **काललब्धि** है। इस प्रकार, ये **पंचसमवाय**, अनियतिनय के विषयभूत पुरुषार्थ की मुख्यता को समादर देकर किये गए, जीवसम्बन्धी कार्यव्यवस्था के विश्लेषण में सम्यक् रूप से घटित होते हैं। [तिरछे टाइप (italics) द्वारा जो क्रियायें यहाँ इंगित की गई हैं, वे समुच्चय रूप से बुद्धिपूर्वक चेष्टा, प्रयत्न, या पुरुषार्थ को अभिव्यक्त करती हैं।] बहिरंग निमित्त के सन्दर्भ में इतना और जानना चाहिये कि जीव द्वारा अभीष्ट कार्य के अनुकूल निमित्तों का अवलम्ब लेना तथा प्रतिकूल निमित्तों से बचना, दोनों ही बातें वहाँ शामिल हैं।

6. संसार और मोक्ष, दोनों का ही कारण : प्रधानतः जीव का अपना पुरुषार्थ

यह जीव अनादिकाल से जो संसरण करता चला आ रहा है, मोह–राग–द्वेषरूप परिणमन करते हुए नाना वैभाविक अवस्थाएं धारण करता आ रहा है, इन सबका कारण मुख्यतः इसके स्वयं के पुरुषार्थ की विपरीतता ही है, जैसा कि कहा भी गया है : **ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमानकर्म–मलावच्छन्नत्वादेवबन्धावस्थायां ... आत्मानमविजानदज्ञानभावेनैव इदमेवमवतिष्ठते** (*समयसार,* गाथा 160, *आत्मख्याति* टीका)। अर्थ : ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा व्याप्त होने से, बन्ध अवस्था में अपने स्वरूप को न जानता हुआ, इस प्रकार अज्ञान अवस्था में ही रह रहा है।

दूसरी ओर, इस जीव के कल्याण का मार्ग भी प्रधानतः इसके स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा ही सुनिश्चित किया जाता है; तभी तो *प्रवचनसार* में आचार्यों द्वारा कहा गया है :

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।88।।

... अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि (*तत्त्वप्रदीपिका* वृत्ति)। अर्थ : जो जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त करके मोह–राग–द्वेष का नाश करता है, वह अल्पकाल में सर्वदुःखों से मुक्त होता है। ... इसलिये सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक मोह का क्षय करने के लिये मैं पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करता हूँ।

7. मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में पुरुषार्थ का स्वरूप

मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में विचार करें तो 'पुरुषार्थ' शब्द का (कोश के अनुसार) पहला अर्थ 'मोक्षरूपी साध्य' को जताता है, जबकि दूसरा अर्थ (जो कि प्रस्तुत लेख में अभिप्रेत है) उस 'साध्य के लिये की जाने वाली साधना' को। इसी दूसरे अर्थ में आचार्य अमृतचन्द्र ने 'पुरुषार्थसिद्धि–उपाय', इस शब्दसमास का प्रयोग किया है। *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय* में आचार्यश्री कहते हैं :

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्।।15।।

अर्थात् (1) विपरीत अभिनिवेश (शरीरादिक एवं कषायादिक के साथ इस जीव द्वारा किये जाने वाले अनादिकालीन एकानुभवन) का निरसन; (2) निजतत्त्व को सम्यक् रूप से यथावत् जानना/स्वरूपानुभवन; तथा (3) अपने उस स्वरूप (में लीन होकर फिर उस) से च्युत न होना; यही मोक्षसाध्य की सिद्धि का उपाय है। इन तीनों उपायों अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति के लिये, संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों द्वारा किया जाने वाला समस्त सम्यक् प्रयत्न ही प्रस्तुत लेख के सन्दर्भ में 'पुरुषार्थ' शब्द का वाच्य है। भेदविज्ञान का साधक/पोषक वह सम्यक् पुरुषार्थ ही साधकजीव को अनवरत एवं प्रगाढ़ साधना की तर्कसंगत परिणति (logical conclusion) के रूप में, रत्नत्रय की परमपूर्णता तक पहुँचाने वाला होता है।

मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की ही प्रधानता है, जैसा कि पण्डित टोडरमल जी ने *मोक्षमार्गप्रकाशक* के नौवें अधिकार में पुरुषार्थ को मुख्य/समर्थ कारण जबकि अन्य हेतुओं को गौण/असमर्थ कारण बतलाया है — "प्रश्न : मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर, भवितव्य के अनुसार बनता है; या मोहादि के उपशमादि होने पर बनता है; या फिर अपने पुरुषार्थ से उद्यम करने पर बनता है? यदि प्रथम दो कारणों से बनता है तो हमें उपदेश किसलिये देते हो? ... समाधान : एक कार्य के होने में अनेक कारण मिलते हैं; जहाँ मोक्ष का उपाय बनता है, वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं; और जहाँ नहीं बनता, वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। **जो पूर्वोक्त तीन कारण कहे,**

उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई चीज़ नहीं है; जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि, और जो कार्य हुआ, वही होनहार। तथा जो कर्म के उपशमादिक हैं, वह पुद्गल की शक्ति है; उसका आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं है। पुनश्च, **पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं, सो यह आत्मा का कार्य है; इसलिये आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।** वहाँ, **यह आत्मा जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य होती हो, यदि उस कारणरूप उद्यम करे, तब तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं, और कार्य की भी सिद्धि होती ही होती है।** परन्तु, जिस कारण से कार्यसिद्धि होती हो, अथवा नहीं भी होती हो, उस कारणरूप यदि उद्यम करे, वहाँ अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होती है, न मिलें तो सिद्धि नहीं होती। सो **जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है, उससे मोक्ष होता ही होता है। इसलिये जो जीव पुरुषार्थ से जिनेश्वर के उपदेशानुसार मोक्ष का उपाय करता है, उसके काललब्धि व होनहार भी हुए, और कर्म के उपशमादि हुए हैं, तो वह ऐसा उपाय करता है। इस प्रकार, जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है, उसके सर्व कारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है — ऐसा निश्चय करना।** परन्तु **जो जीव पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसके काललब्धि व होनहार भी नहीं हैं; और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं, तो यह उपाय नहीं करता। इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसके कोई कारण नहीं मिलते, और उसको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती — ऐसा निश्चय करना।**"[46]

8. 'द्रव्ययोग्यता' और 'पर्याययोग्यता'

जगत का प्रत्येक कार्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, इस स्वभावत्रयी के अनुसार ही होता है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। प्रत्येक द्रव्य में अनेकानेक मूल 'द्रव्य-शक्तियाँ' या 'द्रव्य-योग्यताएँ' समान रूप से सुनिश्चित हैं। उदाहरण के लिये, प्रत्येक जीव में सिद्ध होने की शक्ति अथवा योग्यता है — वर्तमान में वह जीव निगोद पर्याय में है अथवा पंचेन्द्रिय पर्याय में, इसका प्रश्न नहीं है। इसी प्रकार, चूँकि प्रत्येक जीव चौदह गुणस्थानों सम्बन्धी असंख्यात लोकप्रमाण भिन्न-भिन्न वैभाविक परिणामों को करने में समर्थ है, अतएव प्रत्येक संसारी जीव में असंख्यात लोकप्रमाण द्रव्ययोग्यताएँ विद्यमान हैं।

एक जाति के अनेक द्रव्यों में द्रव्ययोग्यताएँ समान होते हुए भी, अमुक चेतन पदार्थ या अमुक अचेतन पदार्थ में वर्तमान स्थूल/व्यंजनपर्याय सम्बन्धी

अनेकानेक शक्तियाँ या योग्यताएँ सम्भव हैं, जिन्हें 'पर्याय–शक्ति' या 'पर्याय–योग्यता' कहा जाता है। जैसे यद्यपि प्रत्येक पुद्गल परमाणु में घट, पट आदि सभी कुछ (पौद्गलिक) पदार्थरूप बनने की द्रव्ययोग्यता है किन्तु यदि कोई परमाणु वर्तमान में मिट्टी के पिण्ड में शामिल है, मृत्पिण्डरूपी स्कन्ध का एक अंश है, तो वह घटरूप ही परिणमन कर सकता है, पटरूप नहीं; अतः उसमें घट होने की तो पर्याययोग्यता है, परन्तु पट होने की पर्याययोग्यता का अभाव है। इसी प्रकार कोई अन्य परमाणु जो वर्तमान में कपासरूपी स्कन्ध का एक अवयव है, उसमें पटरूप होने की तो पर्याययोग्यता है, घटरूप होने की नहीं है।[47]

9. एक समय में अनेकानेक पर्याययोग्यताओं का सद्भाव

मिट्टी के पिण्ड वाला परमाणु वर्तमान में केवल घटरूप होने की योग्यता ही रखता हो, ऐसा नहीं है। उसमें सुराही, सकोरा, तौला, कुल्हड़ इत्यादि अन्य अनेक परिणमनों की संभावना मौजूद है, अर्थात् ये सब पर्याययोग्यताएँ उसमें विद्यमान हैं। अब कुम्हार की इच्छा, प्रयत्न और चक्र, दण्ड आदि जैसी बाह्य सामग्री मिलती है, तदनुसार अमुक पर्याय प्रकट हो जाती है। इतना ही नहीं, वही मिट्टी यदि कुम्हार द्वारा न लाई जाती और खेत में ही पड़ी रहती, तो वह विवक्षित परमाणु किसी पौधे के रूप में भी परिणम सकता था। इसी प्रकार कपास वाले परमाणु में सूत, डोरा, गद्दा, चादर आदि अनेक रूप परिणमन करने की योग्यताएँ अर्थात् पर्याययोग्यताएँ विद्यमान हैं।

ऊपर दिये गए दोनों उदाहरण तो जड़–पदार्थ सम्बन्धी थे; अब हम पुनः अपने प्रकृत विषय अर्थात् चेतन पदार्थ के बारे में विचार करते हैं। प्रत्येक जीव में उपर्युक्त असंख्यात लोकप्रमाण द्रव्ययोग्यताएँ होते हुए भी वर्तमान स्थूल/व्यंजन पर्याय में (जैसे कि हमारी मनुष्य पर्याय में) कोई भी जीव उस राशि के एक अंशमात्र परिणाम करने में ही समर्थ है।[48] ध्यान देने योग्य है कि एक लोकप्रमाणराशि का भी अर्थ है सम्पूर्ण लोकाकाश की प्रदेश–संख्या जो कि असंख्यातासंख्यात होती है। अब यह जीव इतनी अधिक सम्भावनाओं में से कौन सी पर्याय वर्तमान में प्रकट करता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि यह अपने उपयोग में किस पदार्थ का अवलम्बन अपनी रुचि/रुझान के अनुसार किस प्रयोजन से लेता है।

उदाहरण के लिये, कोई मनुष्य घर में बैठा हुआ है; खाली बैठे हुए भी वह किसी–न–किसी पदार्थ के बारे में सोचता रहता है; कुछ–न–कुछ उधेड़–बुन अवश्य किया करता है। यदि वह अख़बार पढ़ता है या टेलिविज़न देखने

लगता है तो तदनुसार उसका मानस प्रवृत्त होता है, किसी घटना या कहानी के पात्रों से जुड़कर राग–द्वेषरूप परिणमन करने लगता है। दूसरी ओर, यदि वह किसी सुशास्त्र का अवलम्बन लेता है, उसका अध्ययन करने में अपने उपयोग को लगाता है तो कुछ दूसरे ही प्रकार के भाव (प्रशस्त जाति के परिणाम) उसके मन में उदित होंगे; जो भी हो, चुनाव उस मनुष्य का है। इस प्रकार एक ओर आजीविका, परिवार, भोगोपभोग–सामग्री आदि, और दूसरी ओर सुदेव–शास्त्र–गुरु, इन भिन्न–भिन्न अवलम्बनों के माध्यम से भिन्न–भिन्न प्रकार के परिणाम करना, यह सब इस जीव की पर्याययोग्यताओं के अन्तर्गत आता है। तात्पर्य यह है कि हम जिस किसी पदार्थ का अपने उपयोग में अवलम्बन लेते हैं, उसी से सम्बन्धित शुभ–अशुभ विकल्प, अपनी रुचि या रागद्वेषात्मक स्वभाव के अनुसार करने लगते हैं।

इस प्रकार **निष्पक्ष, तर्कसंगत, युक्तियुक्त और प्रत्यक्ष अनुभव से अबाधित विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में चाहे वह अचेतन हो अथवा चेतन, अनेकानेक प्रकार की पर्याययोग्यताएँ पाई जाती हैं।** हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि अचेतन पदार्थ का परिणमन (अनेकानेक में से किसी एक पर्याययोग्यता की अभिव्यक्ति) तो मुख्यतः बाहरी निमित्तों के मिलने पर निर्भर करती है, जबकि चेतन जाति के पदार्थों अर्थात् जीवों में से, संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का परिणमन (अनेकानेक में से किसी एक पर्याययोग्यता की अभिव्यक्ति) मुख्यतः उनकी स्वयं की रुचि और स्वयं के पुरुषार्थ पर आधारित है — यही कारण है कि सर्वज्ञ भगवान् तथा पूज्य आचार्यों ने उन्हीं को लक्ष्य करके उपदेश दिया है।

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कुमार द्वारा भी यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है :

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं।। 219।।

अर्थ : सभी पदार्थों में नाना शक्तियां, सामर्थ्य या योग्यताएं हैं। काल आदि की लब्धि होने पर, यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप सामग्री की प्राप्ति के अनुसार[49] वे पदार्थ स्वयं परिणमन करते हैं; उन्हें उससे कोई नहीं रोक सकता।

10. ज्ञानात्मक परिणामों सम्बन्धी अनेकानेक योग्यताएं : ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार

यदि कोई संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव है (जैसे कि हम सभी मनुष्य हैं ही) तो उसके

पंचेन्द्रियों व मन सम्बन्धी मति–श्रुतज्ञानावरणकर्म और वीर्यान्तरायकर्म का जितना क्षयोपशम वर्तमान में है, उतनी ही ज्ञानात्मक पर्याय–योग्यताएं उस जीव के हैं। आचार्य विद्यानन्दि *प्रमाण–परीक्षा* में स्पष्ट लिखते हैं : **योग्यता ... स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम विशेष एव** अर्थात् अपने विषय सम्बन्धी ज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय का क्षयोपशम विशेष ही योग्यता है।[50] यही अभिप्राय आचार्यश्री ने *तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक* में अध्याय 1, सूत्र 13 ("मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्") की टीका के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि की व्याख्या करते हुए अनेकानेक स्थलों पर व्यक्त किया है; जैसे कि पद्यवार्तिक 108 में : **क्षयोपशमसंज्ञेयं योग्यता ...** अर्थात् क्षयोपशम नामक यह योग्यता ...।[51] जब वस्तुस्वरूप ऐसा है, तभी तो संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव किसी भी क्षण, मुख्यतः अपने चुनाव के अनुसार किसी भी एक इन्द्रिय–विषय को अपने उपयोग में ले सकता है; शेष इन्द्रियों–सम्बन्धी क्षयोपशम उसी समय वहाँ लब्धिरूप से विद्यमान रहता है,[52] चूँकि 'लब्धि' और 'योग्यता' समानार्थक हैं।[53] यही आशय *स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा* में भी प्रकट किया गया है :

पंचिंदिय–णाणाणं मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं।
मण–णाणे उवजुत्तो इंदिय–णाणं ण जाणेदि।। 259।।
एक्के काले एक्कं णाणं जीवस्स होदि उवजुत्तं।
णाणा णाणाणि पुणो लद्धिसहावेण वुच्चंति।। 260।।

अर्थ : पाँचों इन्द्रियज्ञानों में से, एक काल में एक ही ज्ञान का उपयोग होता है; जब मनोज्ञान/अनिन्द्रियज्ञान का उपयोग होता है, तब कोई भी इन्द्रियज्ञान नहीं जानता अर्थात् उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि **एक काल में जीव के एक ही ज्ञान का उपयोग होता है; तथापि लब्धि/सामर्थ्य/शक्ति/योग्यता–रूप–से एक काल में जीव के अनेक ज्ञान कहे हैं।**

एक इन्द्रिय–विषय को अपने उपयोग में लेते हुए, शेष इन्द्रियों–सम्बन्धी क्षयोपशम चूँकि उसी समय लब्धिरूप से विद्यमान रहता है, इसीलिये तो अगले ही क्षण हम किसी अन्य इन्द्रिय या अनिन्द्रिय/मन के विषय को अपने उपयोग में ले सकते हैं। यह सभी के अनुभव की बात है कि इस प्रकार से उपयोग–परिवर्तन हम प्रतिक्षण करते रहते हैं; और यह भी कि यह परिवर्तन प्रधानतः हमारी रुचि एवं हमारी चेष्टा की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार, इस आगमानुसारी प्रतिपादन से स्पष्ट है कि **जीव के ज्ञान की वर्तमान समस्त शक्तियां, चाहे वे उपयोगात्मक रूप से व्यक्त हो रही हों या फिर**

लब्धिरूप से विद्यमान हों, दोनों ही रूपों में वे जीव की वर्तमान योग्यताएं हैं, अर्थात् पर्याययोग्यताएं।

11. कषायात्मक परिणामों सम्बन्धी अनेकानेक योग्यताएं

हमारे विकारी/वैभाविक/कषायात्मक/विकल्पात्मक परिणमन के बारे में भी वस्तुस्थिति यह है कि अपने रुचि/रुझान/स्वभाव एवं चुनाव के अनुसार, भिन्न-भिन्न परपदार्थों अथवा परिस्थितियों का अवलम्बन लेकर हम हर्ष-विषादरूप अथवा राग-द्वेषरूप से परिणमित होते रहते हैं। यदि हम स्थूलरूप से हिसाब लगाना चाहें तो :

(क) पाँच इन्द्रियों और मन के विषयभूत हज़ारों-लाखों चेतन-अचेतन पदार्थ;
(ख) क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद
(ग) उक्त कषायों/नोकषायों के अनुभवन की तरतमता (अर्थात् मंद-मंदतर-मंदतमता; तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतमता)
(घ) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह
(ङ) मन, वचन, काय
(च) कृत, कारित, अनुमोदना

इत्यादि को परस्पर में गुणा करके करोड़ों/अरबों भंग बनेंगे इस जीव के परिणामों के। (और, जब इसी विषय को केवलज्ञानगम्य सूक्ष्मता से जाना जाता है तो आश्चर्य नहीं कि असंख्यातासंख्यात भंग बनते हों।) यदि ईमानदारी से विचार करेंगे तो पाएंगे कि हम सभी इनमें से अधिकांश विकल्प/परिणाम करने में समर्थ हैं। हाँ, चुनाव हमारा अपना है; हम सावधान रहकर परपदार्थों से यथाशक्ति उदासीनवृत्ति अपनाकर अपने परिणामों की संभाल भी कर सकते हैं। अथवा, यदि हम तथोचित भूमिका में हैं तो आत्मस्वरूप में लगकर परपदार्थ-सम्बन्धी विकल्पों का निरसन भी कर सकते हैं।

इस प्रकार, प्रस्तुत एवं पिछले दो अनुच्छेदों में किये गए विश्लेषण से **सुस्पष्ट है कि ऐसा वस्तुतत्त्व कदापि नहीं है कि एक समय में एक ही प्रकार के परिणमन की योग्यता हो, और फिर वही परिणमन होता हो। प्रत्युत, एक समय में अनेकानेक पर्याययोग्यताएं होते हुए भी जीव के रुझान/स्वभाव और प्रयत्न/पुरुषार्थ की प्रधानता की सापेक्षतापूर्वक एक ही परिणमन होता है : चाहे वह परिणमन (बहुल अंशों में) ज्ञानात्मक हो अथवा कषायात्मक। अतएव जीव के परिणमन**

का मुख्य नियामक पुरुषार्थ ठहरता है, न कि 'एक–अकेली' पर्याययोग्यता।

12. 'एक काल में केवल एक पर्याययोग्यता' की मान्यता — अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण आगमप्रमाणों के सरासर विरुद्ध

"किसी जीव में विवक्षित क्षण में एक ही पर्याययोग्यता होती है जो महानुभाव इस प्रकार मानते हैं, उनकी ऐसी मान्यता, उपर्युक्त प्रमाणों के अलावा, अन्य भी बहुत से आगमप्रमाणों से सम्पूर्णतया खण्डित होती है। उनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं :

1. अर्हन्त और सिद्धात्माओं के केवलज्ञान गुण की वर्तमान पर्याय क्या है, तनिक इस पर विचार करें। वे केवलज्ञानी आत्मा एक लोक एवं अलोकाकाश को जान रहे हैं, क्योंकि उससे ज़्यादा ज्ञेय उपलब्ध नहीं है। तब क्या उनकी वर्तमान पर्याययोग्यता एक ही लोक–अलोक को जानने की है? 'एक काल में केवल एक पर्याययोग्यता' की कल्पना के समर्थक हमारे बन्धुओं को इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देना पड़ेगा; परन्तु जिनागम का उत्तर नकारात्मक है, क्योंकि *राजवार्तिक* में भट्ट अकलंकदेव कहते हैं : **यावांल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तः तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्युः, तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमास्तीत्य–परिमितमाहात्म्यं तत् केवलज्ञानं वेदितव्यम्** अर्थात् जितना यह लोकालोक स्वभाव से ही अनन्त है, उतने यदि अनन्तानन्त भी लोकालोक हों तो उन्हें भी जानने की सामर्थ्य अथवा योग्यता केवलज्ञान में है, ऐसा केवलज्ञान का अपरिमित माहात्म्य जानना चाहिये।[54]

संख्याप्रमाण के इक्कीस भेदों में[55] जिस सर्वोत्कृष्ट संख्या का अस्तित्व बतलाया गया है, वह है केवलज्ञानगुण के अविभाग–प्रतिच्छेद (degrees), जो कि 'उत्कृष्ट अनन्तानन्त' हैं। केवलज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों से अधिक प्रमाण वाला न कोई द्रव्य है, न कोई क्षेत्र है, न कोई काल है, और न ही कोई भाव।[56] आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने *त्रिलोकसार* में सात गाथाओं (66–72) द्वारा द्विरूपवर्गधारा का निरूपण किया है, उनके भावार्थ को भली–भाँति हृदयंगम करने पर समझ में आता है कि लोकालोक के समस्त ज्ञेय केवलज्ञान की ज्ञायकशक्ति के अनन्तवें भाग के भी अनन्तवें भागमात्र हैं। *परमात्म–प्रकाश* आदि ग्रन्थों में भी केवलज्ञान के लिये लता और ज्ञेयों के लिये मण्डप का दृष्टान्त दिया है। लता या बेल जितना मण्डप है उतनी ही फैलती है, किन्तु यदि मण्डप बड़ा होता तो बेल अधिक भी फैल सकती थी।[57] इस प्रकार, निस्सन्देहतः स्पष्ट है कि एक लोकालोक, संख्यात ... , असंख्यात ... , अनन्त

..., अनन्तानन्त लोकालोकों को प्रतिसमय जानने की सामर्थ्य/शक्ति/योग्यताएं एक–साथ केवलज्ञान में है; किन्तु केवल एक लोकालोक को जानने की योग्यता/शक्ति ही व्यक्त हो पाती है, मात्र उतने ही ज्ञेयों का अस्तित्व पाए जाने के कारण। *प्रवचनसार*, गाथा 23 का एक अंश है : **णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं** अर्थात् ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन केवलज्ञान की अनन्तानन्त शक्ति/सामर्थ्य/योग्यता की व्यक्ति को दृष्टि में रखकर ही किया गया प्रतीत होता है।[58]

[आर्ष आचार्यों के उपर्युक्त कथनों के विपरीत, आधुनिक नियतिवाद के प्रचारक के निम्न वचन पर दृष्टिपात कीजिये : "एक समय में दो योग्यताएं कदापि नहीं होतीं; क्योंकि जिस समय जैसी योग्यता है वैसी पर्याय प्रकट होती है। और, उस समय यदि दूसरी योग्यता भी हो तो एक ही साथ दो पर्यायें हो जाएं; परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस समय जो पर्याय प्रकट होती है उस समय दूसरी पर्याय की योग्यता नहीं होती।"[59] सुधी पाठक अब स्वयं निर्णय करें कि एक ओर तो आर्ष आचार्यों के प्रामाणिक वचन, और, दूसरी ओर, किसी वक्ता का यह स्वकल्पित, आगम–विरुद्ध कथन; इनके बीच वे किसे मान्य समझेंगे? और, यह भी कि जो लोग भट्ट अकलंकदेव के उपर्युक्त कथन को सत्य नहीं मानते, क्या वे अनन्तानन्त लोकालोकों को भी प्रतिसमय जानने में समर्थ केवलज्ञान के "सच्चे श्रद्धानी" कहलाने के अधिकारी हैं?]

2. गणधरदेवादिक चरमशरीरी तपोधन निर्ग्रन्थों के होने वाले उत्कृष्ट परमावधिज्ञान एवं सर्वावधिज्ञान का विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र आगम में असंख्यात लोकप्रमाण बतलाया गया है।[60] **'रूपिष्ववधेः'** (त० सू०, 1/27) के अनुसार, अवधिज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में ही होती है, और रूपी पदार्थ (अर्थात् पुद्गल एवं कर्मपुद्गलों से बद्ध संसारी जीवात्माएं) चूँकि लोक से बाहर नहीं पाए जाते; अतः परमावधि–सर्वावधिज्ञान केवल लोकाकाश के भीतर ही जानता है। तब क्या उसकी वर्तमान पर्याययोग्यता लोकाकाश के भीतर ही जानने की है? यहाँ भी, जिनागम का उत्तर नकारात्मक है, क्योंकि *षट्खण्डागम* की *धवला* टीका में आचार्य वीरसेन लिखते हैं : **एसो एक्को चेव लोगो, परमोहि–सव्वोहीओ असंखेज्जलोगे जाणंति त्ति घडदे? ण एस दोसो, सव्वो पोग्गलरासी जदि असंखेज्जलोगे आवूरिऊण अवचिट्ठदि तो वि जाणंति त्ति तेसिं सत्तिप्पदंसणादो।**[61] शंका : यह एक ही लोक है, परमावधि और सर्वावधिज्ञानी असंख्यात लोकों को जानते हैं, यह कैसे घटित होता है? समाधान : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यदि सब पुद्गलराशि असंख्यात लोकों को भरकर स्थित

हो तो भी वे जान सकते हैं; इस प्रकार उनकी शक्ति या सामर्थ्य से परिचय कराया गया है।

यहाँ भी असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट है कि एक लोकप्रमाण, संख्यात लोकप्रमाण, परीतासंख्यात ..., युक्तासंख्यात ..., असंख्यातासंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को जानने की सामर्थ्य/शक्ति/योग्यताएं एक-साथ परमावधि-सर्वावधिज्ञान में है; किन्तु केवल लोकाकाश के भीतर स्थित ज्ञेयों को जानने की योग्यता/शक्ति ही व्यक्त हो पाती है, उससे बाहर के क्षेत्र में तद्योग्य ज्ञेयों की अनुपलब्धि के कारण।

3. सिद्धात्मा के विषय में आचार्य पूज्यपाद कहते हैं : **मुक्तात्मा नानागतिविकारकारणकर्मनिवारणे सत्यूर्ध्वगतिस्वभावादूर्ध्वमेवारोहति** अर्थात् मुक्त आत्मा नानागतिरूप विकार के कारणभूत कर्म का अभाव होने पर, ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से ऊपर की ओर गमन करता है (*सर्वार्थसिद्धि*, 10/7)। यदि मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला है तो लोकान्त से ऊपर भी किस कारण से गमन नहीं करता? इसके उत्तर में गृद्धपिच्छाचार्य ने कहा है : **धर्मास्तिकायाभावात्** (त० सू०, 10/8) अर्थात् गति के उपकार का निमित्तभूत धर्मास्तिकाय चूँकि लोकान्त के ऊपर नहीं है इसलिये मुक्त जीव का आगे गमन नहीं होता।[62] सुस्पष्ट है कि सिद्ध परमात्मा में ऊर्ध्वगति की स्वाभाविक योग्यता होते हुए भी, धर्मद्रव्यरूपी निमित्त के अभाव में ऊर्ध्वगमनरूप कार्य घटित नहीं होता। ***ज्ञातव्य है कि स्वाभाविक योग्यता कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि एक क्षण तो हो और अगले क्षण उसका अभाव हो जाए।***

पंचास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं यह प्रश्न उठाते हैं :

आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ।। 92।।

अर्थ : यदि आकाशद्रव्य गति-स्थिति के कारण सहित अवकाश देता हो (अर्थात् आकाशद्रव्य यदि अवकाशहेतु होने के साथ-साथ, गति-स्थितिहेतु भी हो) तो ऊर्ध्वगतिप्रधान सिद्ध उस आकाश में क्यों स्थिर हों, अर्थात् आगे गमन क्यों न करें? दूसरे शब्दों में, यदि आकाशद्रव्य की तरह ही धर्मद्रव्य का भी लोक के बाहर अस्तित्व होता, तो ऊर्ध्वगमनस्वभाव वाले सिद्ध परमात्मा लोकशिखर पर पहुँचकर क्यों रुकते, आगे गमन क्यों न करते?

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं : "यदि आकाशद्रव्य,

जिस प्रकार वह अवगाही पदार्थों को अवगाहहेतु है उसी प्रकार, गति–स्थितिमान होने वाले पदार्थों को गति–स्थितिहेतु भी हो तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्धभगवन्त, ***बहिरंग–अन्तरंग साधनरूप सामग्री होने पर भी*** क्यों उस आकाश में स्थिर हों?"[63] अमृतचन्द्रसूरि का आशय सुस्पष्ट है : यदि अलोकाकाश में भी गतिहेतुत्व मान लिया जाए तो अपेक्षित निमित्त या बहिरंग कारण की पूर्ति हो जाने से बाह्याभ्यन्तर साधन–सामग्री की पूर्णता हो जाती है, क्योंकि सिद्ध भगवान में ऊर्ध्वगमन की स्वाभाविक योग्यतारूप अन्तरंग कारण तो मौजूद है ही। परन्तु, देखिये कि अपनी स्वकल्पित मान्यता को टूटने से बचाने के लिये, हमारे आधुनिक नियतिवादी बन्धुजन क्या करते हैं? (खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि) वे आचार्य कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छाचार्य, स्वामी पूज्यपाद, भट्ट अकलंकदेव,[64] आचार्य विद्यानन्दि[65] एवं अमृतचन्द्रसूरि[66] आदि अनेकानेक आर्ष आचार्यों द्वारा मान्य ऊर्ध्वगति की उस स्वाभाविक योग्यता के अस्तित्व को लोकशिखर पर पहुँचे सिद्ध परमात्मा में स्वीकार ही नहीं करते, क्योंकि आचार्यों का वचन स्वीकार लेने पर (क) सिद्ध परमात्मा में एक–साथ ऊर्ध्वगति की तथा लोकशिखर पर स्थिति की आगम–सम्मत दोनों पर्याययोग्यतायें माननी पड़ेंगी, और (ख) सिद्धभगवानरूपी उपादान में ऊर्ध्वगति की योग्यता होते हुए भी, धर्मास्तिकायरूपी निमित्त का अभाव होने से, 'निमित्त की स्वतः उपस्थिति' का उनका मनगढ़ंत नियम खण्डित हो जाएगा!

4. नौ अनुदिश तथा सर्वार्थसिद्धि आदि पॉच अनुत्तर विमानों के अहमिन्द्रों के अवधिज्ञान की शक्ति एवं विक्रिया की शक्ति/योग्यता — दोनों ही, आगम में सातवीं पृथ्वी पर्यन्त बतलाई गई है;[67] किन्तु अत्यन्त मन्दरागी, शुक्ललेश्या के धारक[68] वे सम्यग्दृष्टि देव अपने–अपने विमानक्षेत्र से भी बाहर नहीं जाते।[69] यहाँ तक कि जिनेन्द्रों के पंचकल्याणकों में भी वे नहीं आते, अपितु अपने ही स्थान पर स्थित रहकर मुकुटों से अपने हाथों को लगाकर परोक्ष नमस्कार करते हैं।[70]

उपर्युक्त अनेक आगमप्रमाणों से निस्सन्देह सिद्ध होता है कि विवक्षित क्षण में कार्य जैसा और जितना घटित हो रहा है, तत्क्षण–सम्बन्धी वैसी और उतनी ही एक–अकेली पर्याययोग्यता मानना सरासर आगम–विरुद्ध है। इस प्रकार, हम पाते हैं कि बीसवीं सदी के पाँचवें दशक में कल्पित किया गया, 'एक–समयमें–एक–पर्याययोग्यता' का यह नूतन सिद्धान्त आर्ष आचार्यों के वचनों के समक्ष टिकने में स्पष्ट एवं असन्दिग्ध रूप से असमर्थ है!!

13. 'एक समय में केवल एक पर्याययोग्यता' की कथित अवधारणा में जीव के पुरुषार्थ को कोई स्थान नहीं!

किसी विवक्षित कार्य के सन्दर्भ में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं, उपादान और निमित्त; इतना तो सर्वमान्य है। यदि उपादान और निमित्त, दोनों में अपनी–अपनी अनेक प्रकार की पर्याययोग्यताएं हों, तभी विवक्षित कार्य में पुरुषार्थ की भूमिका बनती है, अन्यथा नहीं; चूँकि किसी समय उपादानपदार्थ अपनी किसी एक पर्याययोग्यता को प्रकट करने के लिये विवक्षित निमित्तपदार्थ की अनेक पर्याययोग्यताओं में से एक, निजपरिणमन–अनुकूल योग्यता का अवलम्बन लेकर परिणमन करे, यही तो उपादान का पुरुषार्थ है। इसके विपरीत, यदि उपादानपदार्थ में एक समय में मात्र एक ही पर्याययोग्यता हो और निमित्तपदार्थ में भी उस समय में मात्र एक ही प्रकार की, उपादान–अनुकूल पर्याययोग्यता हो, तब फिर पुरुषार्थ को किसी भी प्रकार का अवकाश ही कहाँ रहा? (इसी बात की युक्तता बैठाने के लिये, "जीवरूपी उपादानपदार्थ विवक्षित निमित्त का अवलम्बन लेता है" ऐसा आगमानुसारी कथन न करके, "वहाँ निमित्त की मात्र उपस्थिति रहती है" ऐसा स्वकल्पित कथन करने के लिये हमारे नियतिवादी बन्धुओं को मजबूर होना पड़ा है।) ऐसी पुरुषार्थ–निरपेक्ष कार्य–व्यवस्था कोरा नियतिवाद नहीं तो और क्या है?

14. "कर्तृत्व–बुद्धि के अभाव हेतु नियति को मानना ज़रूरी"— नियतिवादियों के इस कथित औचित्य का विश्लेषण

नियतिवादियों का यह अनोखा 'सिद्धान्त' है कि जो भी घटित होता है, सब कुछ पहले से नियत होता है : "जिस जीवपदार्थ की जो पर्याय, जिस समय, जैसे होनी है, वैसी ही होती है; वैसा ही निमित्त वहाँ उपस्थित रहता है; और इतना ही नहीं! वैसा ही जीव का पुरुषार्थ भी होता है!!" अपने इस तथाकथित सिद्धान्त के पक्ष में, आधुनिक नियतिवादी यह औचित्य (justification) पेश करते हैं कि उनके इस 'सिद्धान्त' पर श्रद्धा करके ही जीव कर्तापने के अहंकार का अभाव कर सकता है।

इसी तरह की दैव/भाग्यवादियों की ऐकान्तिक मान्यता है : "सुख–दुःख, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक सब कुछ दैव के अधीन है; पुरुषार्थ निरर्थक है, उससे क्या सिद्धि? पुरुषार्थ को धिक्कार हो; भाग्य ही सर्वोत्कृष्ट है।[71] जो कुछ भी हो रहा है, सब भाग्य के करने से ही हो रहा है; मेरे करने का कुछ भी नहीं है।" दैववादी, इस प्रकार, अपने जीवन की बागडोर भाग्य के भरोसे सौंपकर, "स्वयं

करने–धरने के विकल्पों से'' — भले ही, अपनी भ्रमात्मक धारणा में ही सही — ''निश्चिन्त हो जाता है।''

ऐसा ही एक 'सिद्धान्त' ईश्वर–कर्तृत्व का है : ''जो कुछ भी होता है वह सब ईश्वर की मर्ज़ी से ही होता है; जीवात्मा तो अज्ञानी है, असमर्थ है, कुछ भी करने में समर्थ नहीं है; सुख–दुःख, स्वर्ग या नरक में जाना सब ईश्वर के अधीन है;[72] ईश्वर ही इस सृष्टि का रचयिता/कर्ता/विधाता/नियन्ता, सब कुछ है; मैं कुछ भी करने वाला नहीं हूँ।'' ईश्वरवादी इस प्रकार ''उसकी इच्छा के आगे स्वयं को समर्पित कर देता है'' और समझता है कि ''मैं तो अब अकर्ता हो गया हूँ।'

उक्त तीनों ही तरह की मान्यताओं के अर्न्तगत, जीव के चित्त में होने वाले विकार भी चूँकि 'ईश्वरेच्छा', 'भाग्य' अथवा 'नियति' के अधीन ही घटित होंगे; अतः उनसे मुक्त होना भी ईश्वर, भाग्य अथवा नियति के ही अधीन होगा। फलतः, जीव की आध्यात्मिक उन्नति के सन्दर्भ में, उसकी कथंचित् स्वाधीनता का भी प्रश्न नहीं उठता। वास्तव में, उपर्युक्त तीनों ही मान्यताएं यथार्थ नहीं हैं, असत्य हैं। उपादान रूप से तो कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का कर्ता/नियन्ता हो ही नहीं सकता, चाहे वह 'ईश्वर' ही क्यों न हो, क्योंकि ऐसा होना तो अर्न्तविरोधी (self-contradictory) होगा; तथा निमित्त कदापि कर्ता होता नहीं। और, यह कैसा सिद्धान्त कि स्वयं को कर्तापने के भाव से मुक्त करने के हेतु भगवान् में पर–कर्तृत्व की कल्पना का आरोपण किया जाए? ऐसी कोरी काल्पनिक मान्यता के भरोसे, क्या आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति हो सकेगी?

'दैव' और 'नियति' की उपर्युक्त मान्यताओं पर विचार करने पर उनमें भी अनेक दोष स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। दैव या भाग्य माने पूर्वकर्म, सो वह तो जड़ है; वह जड़कर्म चेतनाशक्ति से युक्त जीवात्मा की अवस्थाओं का कर्ता कैसे हो सकता है? उस जड़कर्म के कथित ज़िम्मे, अपना जीवन सौंप देना क्या महामूढता नहीं है? ऐसी मूढ़ता जीव के लिये, किसी भाँति भी, कैसे सार्थक हो सकती है?

प्राचीन नियतिवादी 'नियति' नामक एक पृथक् स्वतन्त्र 'तत्त्व' मानते थे। उनके अनुसार ''जब जो कुछ होता है वह सब ही नियत रूप से होता हुआ उपलब्ध होता है, अन्यथा नहीं।''[73] परन्तु, सर्वज्ञभाषित षड्द्रव्य–सप्ततत्त्व–नवपदार्थ को मानने वाले हम जैनों के लिये चूँकि जीव के वैभाविक परिणामों और पुद्गल की वैभाविक परिणतिरूप द्रव्यकर्मों के बीच दोतरफ़ा

निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का अत्यन्त वैज्ञानिक एवं विस्तृत–विवेचनायुक्त कर्मसिद्धान्त मौज़ूद है, अतः हमें एक नूतन नियतितत्त्व को मानने की मज़बूरी भला क्यों होने लगी? हाँ, अब अपने को सर्वज्ञ का अनुयायी कहने वाले आधुनिक नियतिवादी, सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व को कैसे घुमा–फिरा कर पेश करके, उसी नियति का समर्थन करने के प्रयास में लगे हैं, यह देखकर दुःखद आश्चर्य ही हो सकता है!!

यदि कोई कहता है कि हम तो अपनी पर्यायों के नियतपने को केवल इसलिये मानते हैं कि इससे हमारी मान्यता में से पर्याय का कर्तापना मिट जाएगा; तो इसका उत्तर यह है कि निज विकारी पर्याय में कर्ताबुद्धि तो आत्मस्वभाव में सम्यक्रूप से लगने पर अपने आप मिट जाती है, क्योंकि वहाँ 'दो' के लिये अवकाश ही नहीं है। **जब यह आत्मा सही अर्थों में निर्विकल्पक–ज्ञाता रहता है तो कर्ता रह ही नहीं सकता, क्योंकि "विकल्पकः परं कर्ता" ऐसा आचार्यों का वचन है** (*समयसार, आत्मख्याति* टीका, कलश 95)। इसके विपरीत, आत्मस्वभाव में स्व–परभेदविज्ञानपूर्वक सम्यक्रूप से लगे बिना, यदि पर्याय का कर्तापना मिटाने की मिथ्या चेष्टा की जाती है तो उससे अकर्तापने का कृत्रिम मानसिक विकल्प ही बनेगा; जिसके परिणामस्वरूप स्वच्छन्द–प्रवृत्तिरूप आचरण होगा — जो कि स्पष्ट ही अहितकर होगा।

15. इच्छा–स्वातन्त्र्य, अथवा पुरुषार्थ के अनियतत्व के सद्भाव में ही आगमोपदिष्ट संयम की सम्भावना है, अन्यथा नहीं

अनादिकाल से ही इस जीव ने आहार, भय, मैथुन और परिग्रह — इन चार संज्ञाओं या अभिलाषाओं–वांछाओं के संस्कार संचित किये हुए हैं।[74] स्व–पर भेद–विज्ञानपूर्वक इन संस्कारों में स्वभावबुद्धि को छोड़ते हुए, जब यह जीव बहिरंग में इन वांछाओं के विषयभूत परपदार्थों का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करता है और अन्तरंग में तत्सम्बन्धी विकल्पों का निरसन करता है, तभी संयम घटित होता है, अन्यथा नहीं। 'संयम' के इस आगमानुसारी निरूपण में जो एक अनिवार्य घटक (factor) निहित है, वह है : 'इच्छा–स्वातन्त्र्य' (freedom of will)। आहारादिक के विषय में जहाँ–जहाँ इच्छा–स्वातन्त्र्य नहीं है, वहाँ–वहाँ संयम भी नहीं हो सकता — यह तथ्य सर्वमान्य है तथा आगम और युक्ति, दोनों से अबाधित है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि, शुक्ललेश्यायुक्त, प्रवीचार–रहित, तत्त्वचर्चादिक में लीन सर्वार्थसिद्धि आदि अनुत्तर–अनुदिशवासी

देवों में,[75] तथा ग्यारह–अंगरूपी सम्यग्ज्ञान के धारी लौकान्तिक देवों में[76] भी संयम नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी आहार–परिग्रहादिविषयक परिणति निश्चित है : उनके विमान, भवन आदि एवं वस्त्राभूषणादिरूप परिग्रह भी निश्चित हैं; तथा जितने सागरोपम वर्षप्रमाण उनकी आयु होती है, उतने हज़ार वर्षों के पश्चात उनके मानसिक आहार होता है, यह भी निश्चित है।[77] इसके विपरीत, कर्मभूमि में जन्मे, शुभ–अशुभ लेश्या वाले मनुष्य तो क्या, तिर्यंच भी — उपर्युक्त चारों (तथा उपलक्षण से) अन्यान्य भी अभिलाषाओं का एकदेशतः निरसन करके — सम्यग्दर्शन के ग्रहणपूर्वक देशसंयमी हो सकते हैं, क्योंकि उनकी आहार–परिग्रहादिविषयक परिणतियां निश्चित नहीं हैं। [यदि इन जीवों की पर्याययोग्यताएं निश्चित होती हों (जैसा कि हमारे कुछ बन्धुजन मानते हैं), तब तो परिग्रहपरिमाणव्रत, दिग्व्रत, देशव्रतादि की सम्भावना भी नहीं बन सकेगी, क्योंकि परिग्रहादिक की सीमाएं निश्चित करना तभी अर्थपूर्ण एवं तर्कसंगत हो सकता है, जब कि आगम–सम्मत अनेक पर्याययोग्यताओं के सिद्धान्त को स्वीकारा जाए — इच्छा–स्वातन्त्र्य को मंज़ूर किया जाए।]

कर्मभूमिज मनुष्य–तिर्यंचों की आहार–परिग्रहादिविषयक परिणतियां निश्चित नहीं हैं, प्रत्युत अनियत हैं — इसी कारण मिथ्यादर्शन–ज्ञान–चारित्र का सेवन करता हुआ एवं बहु–आरम्भ और बहु–परिग्रह आदि की मूर्च्छा में लिप्त होता हुआ, कर्मभूमि का मनुष्य सातवें नरक को जाने में भी समर्थ होता है; तथा, अपने पुरुषार्थ की उक्त विपरीत दिशा को सम्यक्रीत्या पलटकर, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की सम्यग् आराधना की प्रकर्षतापूर्वक वही जीव सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान्–विशेषों का, पुनश्च उसी रत्नत्रय की परम–प्रकर्षतापूर्वक मुक्ति–सौख्य का भी अधिकारी हो सकता है।[78]

उपर्युक्त, आगम–सम्मत विवेचन से सुस्पष्ट है कि इच्छा–स्वातन्त्र्य अथवा पुरुषार्थ के अनियतपने के सद्भाव में ही संयम की सम्भावना बनती है, अन्यथा नहीं। इसलिये जो लोग कर्मभूमिज मनुष्य–तिर्यंचों की भी पर्यायों को नियत मानते हैं, उनके यहाँ न तो संयम हो सकता है और न ही मुक्ति हो सकती है — तनिक आधुनिक नियतिवाद के प्रचारक के इस वक्तव्य पर दृष्टिपात कीजिये : "जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो अन्न–जल मिलना होता है उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वे ही कण मिलेंगे, उसमें एक समय मात्र अथवा एक परमाणु मात्र का परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है। ... **चाहे कम खाने का भाव करे या अधिक खाने का भाव करे, किन्तु जितने और जो परमाणु आने हैं उतने और वे ही परमाणु आएंगे।**"[79]

16. आचार्यों के उपदेश की सार्थकता और नियतिवादियों की मान्यताओं में विरोध

"उपादान–पदार्थ को एक नियत, निश्चित पर्याययोग्यता के अनुरूप परिणमन करना है और उसी के अनुकूल पर्याययोग्यता वाला निमित्तपदार्थ वहाँ स्वयमेव उपस्थित रहता है" — यदि ऐसा माना जाता है तो परमागम में भगवान् आचार्यों द्वारा दिया गया उपदेश निरर्थक हो जाएगा कि "हे जीव! तू 'पर' से उपयोग को हटाकर निजात्मतत्त्व के सम्मुख कर; मिथ्यात्व और अविरतिरूप परिणामों का त्याग करके तू सम्यक्त्व, एवं तदनन्तर, द्रव्यसंयमपूर्वक भावसंयम को ग्रहण कर।"

आचार्यों के करुणापूर्वक दिये गए ऐसे परमहितकारी सम्बोधनों को यदि "मात्र उपदेश देने की शैली" कहकर उनकी अवहेलना/अवज्ञा की जाती है; और "जीववस्तु का परिणमन तो नियति के अधीन है" ऐसा ही माना जाता है, क्योंकि उक्त मान्यतानुसार "एक समयसम्बन्धी मात्र एक पर्याययोग्यता निश्चित है;" तो जीवरूपी उपादान के अपने चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। तब फिर, जैसा कि अनुच्छेद 3 में टिप्पणी कर आए हैं, उस जीव–पदार्थ का स्वभाव भी निश्चित ठहरा, निमित्त भी निश्चित ठहरा, पुरुषार्थ भी निश्चित ठहरा, कार्य/भवितव्य भी निश्चित ठहरा और काल भी निश्चित ठहरा। **वस्तुस्थिति को यदि ऐसे ही समझा–समझाया जाता है; पंचसमवाय को कार्यव्यवस्था में यदि इसी प्रकार घटाया जाता है, तो इससे पृथक् 'एकान्त नियतिवाद' फिर क्या है? इसमें पुरुषार्थ अथवा सम्यक् अनियति की सापेक्षता कहाँ घटित होती है?**

यदि यह कहा जाता है कि "पुरुषार्थपूर्वक नियति को मानना सही है, जबकि पुरुषार्थरहित नियति को मानना एकान्तवाद है।" तो इसका उत्तर इस प्रकार होगा : "जब आपने 'एक–अकेली पर्याययोग्यता' को ही परिणमनरूपी कार्य का नियामक मान लिया, तब आपकी मान्यता में तो पुरुषार्थ भी नियत हो गया; आपने तो 'पुरुषार्थ' और 'नियति' का अन्तर ही मिटा दिया। इन दो भिन्न–भिन्न शब्दों का प्रयोग अपनी कथनी में आप भले ही करें, परन्तु इन शब्दों से जुड़ी दो भिन्न–भिन्न अवधारणाओं (concepts) को तो आपने अपने निरूपण द्वारा एक ही कर डाला; यही तो एकान्तवाद है!"

आधुनिक नियतिवादियों द्वारा किये गए कुछ–एक प्रकाशनों का परीक्षण करने पर, हम पाते हैं कि स्व–कल्पित नियतिवाद को सही ठहराने के अपने

प्रयास में, वे अनेक स्थलों पर आर्ष आचार्यों के कथनों को बदलकर ऐसा रूप दे रहे हैं कि वे अपनी मान्यताओं को ठीक साबित कर सकें। उदाहरण के तौर पर, उन्हें :

(क) प्रत्येक पदार्थ में, चाहे वह जड़ पदार्थ हो या चेतन, पर्यायों की 'क्रमबद्धता' की एक नवीन कल्पना करनी पड़ी है, जबकि जिनागम में 'क्रमबद्धता' का कोई प्रतिपादन ही नहीं है। (देखिये, इसी अंक में प्रकाशित : 'आत्मख्याति टीका में प्रयुक्त क्रमनियमित विशेषण का अभिप्रेतार्थ' शीर्षक से लेख)।

(ख) "विवक्षित कार्य में अनुकूल पदार्थ (या निमित्त) साधन होता है," इस आगम-सम्मत सत्य का, अर्थात् निमित्तपदार्थ के साधनत्व का, निषेध करना पड़ा है।

(ग) "जीव को अपने विवक्षित कार्य के लिये समुचित, अनुकूल निमित्तों को बुद्धिपूर्वक खोजना चाहिये (तथा तत्प्रतिकूल निमित्तों से बुद्धिपूर्वक बचना चाहिये)," आगम-सम्मत इस बात का भी निषेध करना पड़ा है।

(घ) "निश्चय-चारित्र का साधनभूत, चरणानुयोग का विषयभूत जो व्यवहार-चारित्र है, उसे साधक को स्व-बुद्धि-विवेकपूर्वक धारण करना चाहिये," इस आगम-सम्मत कथन की जगह "क्रमबद्ध पर्यायों की धारा में जब वैसी पर्याय आती है, तब वह व्यवहार-चारित्र स्वतः होता है" — पुरुषार्थ का तिरस्कार करने वाले, ऐसे कथनों का प्रयोग करने से भी वे नहीं चूकते।

(ङ) आर्ष आचार्यों द्वारा दी गई सीधी-स्पष्ट एवं प्रामाणिक पुरुषार्थ की परिभाषा के स्थान पर, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम को 'पुरुषार्थ' कहना शुरु कर दिया गया है।

इस तरह किये जा रहे निरूपण के क्या परिणाम होंगे? लोग चाहकर अशुभ प्रवृत्ति करेंगे और मानेंगे कि "मेरी तो ऐसी ही पर्याययोग्यता थी; अथवा क्रमबद्ध पर्यायों की शृंखला में मेरी तो ऐसी ही पर्याय होनी थी; सो वैसा ही हो रहा है, मैं तो इसका कर्ता हूँ नहीं; क्योंकि मैं तो ज्ञान-दर्शन का कर्ता हूँ, पर्याय को मात्र जानने वाला हूँ।" इस प्रकार, द्रव्यार्थिकदृष्टि के साथ ही साथ, पर्यायार्थिक दृष्टि से भी रागादिक भावों के कर्तापने को मंजूर न करते हुए, द्रव्यार्थिक दृष्टि का एकान्त किया जाएगा। शरीर की क्रिया को चाहकर करते हुए भी उसे मात्र जड़ की क्रिया माना जाएगा। आत्मा के परिणामों और भोग-उपभोगादिक क्रियाओं के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को 'व्यवहार' कहकर मिथ्या माना जाएगा। और, ऐसे लोग अपने को सम्यग्दृष्टि समझेंगे, स्वयं को भावीसिद्ध मानेंगे।

भविष्य में जिसके होने की आशंका है, ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति को ध्यान में रखकर इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। दूरदर्शी, तत्त्वद्रष्टा आचार्य भविष्य की बात विचारकर ऐसा उपदेश देते थे जिससे कि आने वाले समय में भी कोई अनर्थकारी स्थिति न बनें। इसलिये सभी तत्त्वजिज्ञासुओं, निष्पक्ष विद्वानों, वीतरागी आचार्यों एवं समाज के हितेच्छुओं को भली-भाँति निर्णय करके उक्त मिथ्या मान्यता का निरसन करना चाहिये। अन्यथा सभी शास्त्रों का उपदेश निरर्थक हो जाएगा। सर्वविदित है कि **आर्ष आचार्यों ने सर्वत्र पुरुषार्थप्रधान उपदेश दिया है, फिर आज नियतिप्रधान उपदेश की ज़रूरत क्यों पड़ गई? कभी सोचा है कि महान, वीतरागी, दूरदर्शी आचार्यों के सम्यक् उपदेशों की अवहेलना/अवज्ञा करने के क्या गम्भीर परिणाम होंगे? यदि नियतिवादियों का स्वघोषित** (self-styled) **निरूपण इसी प्रकार चलता रहा तो आने वाले समय में एकान्त नियतिवाद तो जिनागम होने का दावा करने लगेगा, जबकि आर्ष आचार्यों के जिनागमसम्मत कथन नज़रअंदाज़ किये जाते-जाते अप्रासंगिक** (irrelevant) **क़रार दिये जाने लगेंगे!**

शायद अपने किसी प्रच्छन्न अजेण्डा (hidden agenda) **के तहत काम करने वाले; और आर्ष आचार्यों के सारगर्भित, कल्याणकारी सम्बोधनों को मात्र 'उपदेश देने की शैली' कहकर जिनवाणी की अवज्ञा करने वाले ये नियतिवादी क्या वास्तव में जिनशासन के 'अनुयायी' हैं?** सुधी पाठक स्वयं निर्णय करें।

17. ज्ञेयपदार्थ की भूत एवं भविष्यत् पर्यायें : निश्चय से उसके अस्तित्व में असद्भूत; किन्तु वर्तमान प्रत्यक्षज्ञान में झलकीं, अतः उपचार से 'ज्ञेयपदार्थ में सद्भूत' कहलाईं

अपने प्रतिपक्षी ज्ञानावरण कर्म के समूल क्षय से प्रकट होने वाले, निरावरण केवलज्ञान का माहात्म्य असीम-अपरिमित है; इसीलिये उस दिव्यज्ञान का विषय समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें हैं : **सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य** (त० सू०, 1/29)। इतना ही नहीं, केवलज्ञान 'असहाय' अर्थात् सहायनिरपेक्ष है, वह किसी भी पदार्थ की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। जहाँ विनष्ट/अतीत और अनुत्पन्न/अनागत पर्यायों को जानने का सन्दर्भ है, केवलज्ञान वहाँ ज्ञेय

अथवा अर्थ की भी अपेक्षा नहीं रखता; जैसा कि *कसायपाहुड* की *जयधवला* टीका में श्री वीरसेनाचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है : **अर्थसहायत्वान्न केवलमिति चेत्? न; विनष्टानुत्पन्नातीतानागतार्थेष्वपि तत्प्रवृत्त्युपलम्भात्।** शंका : केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिये उसे 'केवल' अथवा 'असहाय' नहीं कह सकते? समाधान : नहीं, क्योंकि नष्ट हो चुके, अतीत अर्थों/पर्यायों में, और उत्पन्न न हुए, अनागत अर्थों/पर्यायों में भी केवलज्ञान की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये यह अर्थ की सहायता से होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।[80] [केवलज्ञान द्वारा अतीत और अनागत पर्यायों का ग्रहण, वास्तव में, वर्तमान अर्थ/ज्ञेय के ग्रहणपूर्वक ही होता है। तात्पर्य यह है कि वे अतीत–अनागत पर्यायें वर्तमान ज्ञेयपदार्थ में मात्र भूत शक्तियों एवं भविष्यत् शक्तियों के रूप में ही पाई जाती हैं।[81]]

ऐसा ही आशय कुन्दकुन्दाचार्य *प्रवचनसार* में व्यक्त करते हैं :

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।।39।।

अर्थ : यदि अजात/अनुत्पन्न तथा प्रलयित/विनष्ट पर्यायें केवलज्ञान के प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को 'दिव्यज्ञान' कहकर कौन प्ररूपित करेगा?

इससे ठीक पहली गाथा में आचार्यश्री कहते हैं :

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा।।38।।

अर्थात् जो पर्यायें निश्चय से उत्पन्न नहीं हुई हैं, तथा जो पर्यायें उत्पन्न होकर निश्चय से नष्ट हो गई हैं, वे असद्भूत पर्यायें भी ज्ञानप्रत्यक्ष होती हैं। इसी गाथा की *तात्पर्यवृत्ति* में जयसेनाचार्य कहते हैं : **ये नैव संजाता नाद्यापि भवन्ति, भाविन इत्यर्थः। हि स्फुटं ये च खलु नष्टा विनष्टाः पर्यायाः। किं कृत्वा? भूत्वा। ते पूर्वोक्ता भूता भाविनश्च पर्याया अविद्यमानत्वादसद्भूता भण्यन्ते। ते चाविद्यमानत्वादसद्भूता अपि वर्तमानज्ञानविषयत्वाद् व्यवहारेण भूतार्था भण्यन्ते।** अर्थ : जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं, तथा जो पर्यायें उत्पन्न होकर निश्चय से विनष्ट हो गई हैं, वे पूर्वोक्त भूत और भावी पर्यायें विद्यमान न होने से असद्भूत कही जाती हैं। **यद्यपि वे पर्यायें वर्तमानकाल में पदार्थ में अविद्यमान होने से निश्चय से असद्भूत हैं, तथापि वर्तमान ज्ञान का विषय होने से व्यवहार से अर्थात् *उपचार से* (ज्ञेयपदार्थ में) भूतार्थ या सद्भूत कही जाती हैं।**[82]

हम अनेकान्तवादियों के लिये यह विषय एकदम स्पष्ट है : **किसी भी पदार्थ की अतीत एवं अनागत पर्यायें, (1) प्रत्यक्षज्ञान में वर्तमान में झलकने की अपेक्षा, जहाँ उस ज्ञेयपदार्थ में *उपचार से* 'सद्भूत' कही जाती हैं, वहीं (2) उस ज्ञेयपदार्थ के निज–अस्तित्व की अपेक्षा, वे *निश्चय से* असद्भूत हैं।** सुस्पष्ट है कि आचार्य जयसेन द्वारा प्रयुक्त 'व्यवहार' शब्द का अर्थ यहाँ 'उपचार' ही किया जा सकता है, अन्य कुछ नहीं; क्योंकि जो पर्यायें निश्चय से किसी पदार्थ में असद्भूत है, उन्हें *मात्र उपचार से* ही "उस पदार्थ में सद्भूत" कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। ["भूत–भविष्यत् पर्यायें ज्ञेयपदार्थ में विद्यमान ***कही जाती हैं***" यह कथन मान्य है क्योंकि यह केवलज्ञान का आश्रय लेकर किया गया है। तथापि जिनागम में निरूपित किये गए सिद्धान्त सार्वभौमिक और सार्वकालिक होने के साथ ही साथ; व्यक्तिपरक नहीं, प्रत्युत वस्तुपरक होने से, उन सिद्धान्तों के समस्त जीवों पर समान रूप से लागू होने के कारण; उक्त कथन की प्रकृति को, जो कि न्यायशास्त्र के बिल्कुल सरल नियम के अनुसार **'उपचरित'** है — उसे तो उपचरित ही मानना पड़ेगा, अन्यथा मानेंगे तो मिथ्यात्व की पुष्टि का प्रसंग प्राप्त हो जाएगा।]

ध्यान देने की बात है कि ऊपर के पैरा में पहला कथन तो ज्ञान की अपेक्षा से किया गया है, जबकि दूसरा कथन ज्ञान के विषय यानी ज्ञेयपदार्थ की स्व–अपेक्षा से किया गया है। पहला कथन **ज्ञानापेक्ष** अथवा (दर्शनशास्त्र की भाषा में) **ज्ञानमीमांसीय** कथन (epistemological statement) है; और दूसरा **ज्ञेयपदार्थापेक्ष** अथवा **सत्तामीमांसीय** कथन (ontological statement) है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि अतीत–अनागत पर्यायों के विषयक्षेत्र में, ये दो प्रकार के नयावलम्बी कथन यद्यपि एक–दूसरे के प्रतिपक्षी हैं; तथापि जिनागम का मूल जो अनेकान्त सिद्धान्त है वह उनमें परस्पर सापेक्षता स्थापित करके दोनों का सम्यक् अन्वय या समन्वय कर देता है।

यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम पाते हैं कि जिनागम में अतीत पर्यायों का पदार्थ की सत्ता में **प्रध्वंस–अभाव** तथा अनागत पर्यायों का **प्राग्–अभाव** बतलाया गया है।[83] उदाहरण के लिये, कपाल/ठीकरा पर्यायमय मृद्द्रव्य में घट पर्याय का, अथवा दही पर्यायमय गोरसद्रव्य में दूध पर्याय का प्रध्वंसाभाव है। तथा, दूसरी ओर, मृत्पिण्ड/स्थास/कोश/कुशूल पर्यायमय मृद्द्रव्य में घटपर्याय का, अथवा दूध पर्यायमय गोरसद्रव्य में दही आदि पर्यायों का प्रागभाव है। ***यदि हम आगम–सम्मत इन सत्तामीमांसीय कथनों को स्वीकार नहीं करते हैं तो सिद्धात्म–अवस्था में, पूर्व***

संसारी अवस्था सम्बन्धी किन्तु अब विनष्ट हो चुकीं, विभावपर्यायों के अस्तित्व को मानने का प्रसंग आ खड़ा होगा। अथवा, जीवों के संसारी अवस्था में रहते हुए ही, वर्तमान में अनुत्पन्न अर्हत्, सिद्ध इत्यादि पर्यायों का अस्तित्व मानना पड़ जाएगा।

स्वामी समन्तभद्रकृत *आप्तमीमांसा* की दसवीं कारिका और उस पर भट्ट अकलंकदेवकृत *अष्टशती*, एवं आचार्य विद्यानन्दिकृत *अष्टसहस्री* टीकाओं में उन परमतों में लगने वाले दूषणों की विस्तार से चर्चा की गई है जो प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को नहीं मानते हैं। न्यायशास्त्र के विशेष जानकार तत्त्वजिज्ञासु इस विषय को उन ग्रन्थों में देख सकते हैं। हमारे लिये तो इतना ही काफ़ी है कि ***जिन केवलज्ञानी महापुरुषों ने ज्ञेयों की विनष्ट व अनुत्पन्न पर्यायों को अपने विशद, दिव्य ज्ञान द्वारा हस्तामलकवत् स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष जाना है, उन्हीं केवलज्ञानियों ने ज्ञेयों में उन पर्यायों के प्रध्वंसाभाव व प्रागभाव को भी स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष देखा है और उसी का उपदेश भी दिया है, और वही उपदेश वीतरागी, सम्यग्ज्ञानी आचार्यों की परम्परा द्वारा हमें प्राप्त हुआ है।***

"किसी भी पदार्थ में भूत–भविष्यत् पर्यायों की मौज़ूदगी ठीक उसी तरह होती है, जिस तरह कि सिनेमा की रील में हज़ारों पिक्चर–फ्रेम्स एक–साथ मौजूद होते हैं" — जो 'विद्वान' इस स्वकल्पित कथन को सिद्ध करने की असफल कोशिश में पिछले बीस–तीस बरसों से लगे रहे हैं (और जिसके लिये उन्होंने शास्त्रों में दिये गए दृष्टान्तों को खींचकर — ***"दृष्टान्त सदा आंशिकरूप से ही दार्ष्टान्त पर घटित हुआ करता है,"*** इस सर्वमान्य नियम की जानबूझकर अवहेलना करते हुए — उन दृष्टान्तों को अपनी व्याख्या के दौरान दृष्टान्ताभास बनाकर, अपना मन्तव्य सिद्ध करने का प्रयास किया है);[84] उन्हें महान, आर्ष आचार्यों के उपर्युक्त उद्धरणों के उज्ज्वल आलोक में स्वयं अपने आप से एक ईमानदार प्रश्न करना चाहिये : क्या वे अपने वाक्चातुर्य का प्रयोग करके, वीतरागी, सम्यग्ज्ञानी आचार्यों के माध्यम से हमें प्राप्त हुई जिनवाणी को झुठलाने का प्रयास नहीं कर रहें हैं? यद्यपि यह ठीक है कि आचार्यों ने हमें समझाने की विवक्षावश, प्रत्यक्षज्ञान के लिये चित्रपट की उपमा दी है : **किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः,**[85] अथवा **चित्रभित्तिस्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते;**[86] तथापि उन्होंने प्रत्यक्ष, दिव्यज्ञान के लिये ही ऐसे उपमान (चित्रपट आदि) का प्रयोग किया है; केवलज्ञान को ही 'चित्रपटी–स्थानीय' अथवा

'चित्रभित्ति–स्थानीय' कहा है; **ज्ञेयपदार्थ को आचार्यों ने कदापि चित्रपट–जैसा नहीं बतलाया, यह ध्यान से (और, ईमानदारी से भी) नोट करने वाली बात है।**

[हमें केवलज्ञान के विषय में समझाने के प्रयोजनवश, आचार्यों ने जहाँ चित्रपट अथवा भित्तिचित्र का सरल दृष्टान्त दिया है, वहाँ हमें यह समझना भी ज़रूरी है कि दृष्टान्त (चित्रपटादि) और दार्ष्टान्त (केवलज्ञान) में गंभीर अन्तर भी है। जहाँ, एक ओर, चित्रपट, भित्तिचित्र आदि ससीम (limited) एवं संख्यात–आयामी (finite-dimensional) पदार्थ हैं; वहीं, दूसरी ओर, केवलज्ञान असीम (limitless) एवं अनन्त–आयामी[67] (infinite-dimensional) भाव है, जिसमें आकाश–धर्म–अधर्मद्रव्यों, असंख्यात कालद्रव्यों, अनन्तानन्त जीवों, और उनसे भी अनन्तानन्तगुने पुद्गलों में से प्रत्येक अपनी सामान्य–विशेषात्मक सम्पूर्णता में — अपने द्रव्यसामान्य, सहभावी गुणों तथा क्रमभावी पर्यायों/विशेषों सहित — युगपत् झलकते हैं; और जीव व पुद्गल द्रव्यों की वे पर्यायें स्वाभाविक एवं वैभाविक, दोनों ही जातियों की हैं। केवलज्ञानरूपी चित्रपट वा दर्पण पर प्रतिबिम्बित जो वैभाविक पर्यायें हैं वे परस्पर सापेक्षता को लिये हुए — कारण–कार्य, साधन–साध्य, निमित्त–नैमित्तिक, इत्यादि — अनेकानेक जातियों के सम्बन्धों के द्वारा एक–दूसरे से कथंचित् सम्बद्ध दिखलाई पड़ती हैं। वे सभी पर्यायें समस्त अन्तर्बाह्य कारण–सामग्री के द्वारा जिस–जिस प्रकार से घटित होती हैं, उन समस्त कारण–कार्य/साधन–साध्यभावों की समग्रता सहित ही केवलज्ञान में झलकती हैं और इसीलिये, तत्तदनुसार ही केवली–प्रणीत आगम में प्रतिपादित की गई हैं।]

18. जो लोग पदार्थ में अनेक पर्याययोग्यताओं का सद्भाव स्वीकार नहीं करते, उनके यहाँ, ज्ञान की त्रिकालज्ञता का घटित होना अशक्य है

अन्तिम तीर्थंकर, भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि में उनके पूर्ववर्ती, श्रीऋषभादि–पार्श्वान्त तेईस तीर्थंकरों के जीवनचरित्र का निरूपण हुआ है। उस निरूपण में उन तीर्थंकरों के पिछले दस–दस भवों का भी सविस्तार वर्णन आया है। ध्यान देने योग्य है कि भगवान् महावीर के काल में ये तेईस तीर्थंकर सिद्ध अवस्था में थे। एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि सर्वज्ञ महावीर स्वामी ने उन सिद्धों की संसारावस्था की पर्यायों को कैसे जाना? क्या वे वैभाविक पर्यायें अब भी उन परम–पूज्य सिद्ध परमात्माओं के अस्तित्व में 'विद्यमान' कही जा सकती हैं?

कदापि नहीं, क्योंकि सिद्ध–परमेष्ठी की परमशुद्ध सत्ता में तो विभाव का असद्भाव है। तो फिर, **भगवान् महावीर ने उन पर्यायों को कैसे जाना** (क्योंकि, जैसा कि पिछले अनुच्छेद में देख आए हैं, *षट्खण्डागम* एवं *कसायपाहुड़* के समर्थ टीकाकार, आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार,[88] केवलज्ञान द्वारा अतीत और अनागत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ/ज्ञेय के ग्रहणपूर्वक ही होता है)?

इस प्रश्न के सुविचारित उत्तर में ही प्रकृत विवाद का सम्यक् हल मौज़ूद है — जिस प्रकार उन वैभाविक पर्यायों के 'व्यक्तिरूप' अस्तित्व का सिद्ध–अवस्था में असद्भाव (=प्रध्वंसाभाव) होते हुए भी, वे पर्यायें किसी अपेक्षा से, भूतशक्तियों या भूत–योग्यताओं के रूप में,[89] सिद्ध–अवस्था में मौज़ूद हैं[90] [अन्यथा, यदि वे पर्यायें सर्वथा असद्रूप होती तो सर्वज्ञ भगवान् महावीर स्वामी उन पर्यायों को कैसे जान सकते थे?]; ठीक उसी प्रकार अन्य सभी चेतन–अचेतन पदार्थों में भी भूत–भविष्यत् पर्यायों के अस्तित्व के बारे में जानना चाहिये, क्योंकि **जिनागम के समस्त मूल सिद्धान्त सभी पदार्थों पर समान रूप से लागू (applicable) होते हैं।** अतः, ***जिस प्रकार, सिद्ध–अवस्था में भूत–पर्यायें, भूतनैगमनय की विषयभूत भूतशक्तियों/योग्यताओं के रूप में मौज़ूद हैं, उसी प्रकार, समस्त चेतन–अचेतन पदार्थों में भी भूत–भविष्यत् पर्यायें, भूतभाविनैगमनयों की विषयभूत[91] भूत–भविष्यत् शक्तियों/योग्यताओं के तौर पर मौज़ूद होनी चाहियें।***

परन्तु, जो लोग वर्तमान ज्ञेय में अनेक योग्यताओं के अस्तित्व को ही मंज़ूर नहीं करते, उनके यहाँ तो प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा भूत और भविष्यत् पर्यायों का जाननपना ही नहीं बन सकेगा, क्योंकि शक्तियों या योग्यताओं के रूप में ही उन भूत–भविष्यत् पर्यायों का वर्तमान पदार्थ में अस्तित्व पाया जाता है, अन्यथा नहीं। जो लोग *स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा* के रचयिता 'स्वामी कुमार' के "णाणासत्तीहि संजुदा अत्था," (ऊपर, अनुच्छेद 9 में उद्धृत किये जा चुके) **इस वचन को स्वीकार नहीं करते — पदार्थों में नाना पर्यायशक्तियों या पर्याययोग्यताओं के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते, उनकी मान्यता में तो वे वर्तमान अर्थ/ज्ञेय में सर्वथा असत् ठहरेंगीं; और, सर्वथा असत् को केवलज्ञानी कैसे जानेंगे (क्योंकि, श्रीमद् वीरसेनाचार्य के अनुसार, तब तो खरविषाण आदि में भी केवलज्ञान की प्रवृत्ति हो जाने के दोष का अस्वीकार्य प्रसंग प्राप्त हो जाएगा)?**[92]

उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा यह अब बिल्कुल ज़ाहिर है : **आधुनिक नियतिवादियों के 'एक काल में एक पर्याययोग्यता' के स्वकल्पित नियम की तर्कसंगत परिणति** (logical conclusion) **और कुछ नहीं, बल्कि 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य,' इस मूल सूत्र की ही विरोधिनी साबित हुई है।** और, तर्कशास्त्र का यह मूल नियम है : जिस आधारभूत मान्यता (premise or hypothesis) का नतीजा अन्ततः विसंगत अथवा अन्तर्विरोधी (inconsistent or self-contradictory) निकले, वह मान्यता स्वयं ही 'विसंगतिपूर्ण/असत्य' सिद्ध हुई मानी जाती है।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि विभिन्न **चेतन–अचेतन पदार्थों की वे भविष्यत्कालीन वैभाविक शक्तियें/योग्यताएं — अपनी व्यक्ति के हेतु — पदार्थ के भीतर कोई पंक्ति** (queue) **बनाकर नहीं खड़ी रहतीं, जैसा कि कुछ लोगों ने अपनी भ्रमात्मक धारणा बनाई हुई है।** आचार्य कुन्दकुन्द एवं स्वामी समन्तभद्र आदि से लगाकर सभी महान् आचार्यों के अनुसार, ***उन भविष्यत्कालीन वैभाविक शक्तियों/योग्यताओं में से कौन 'व्यक्त' होगी यह तदनुकूल अन्तरंग–बहिरंग कारण–सामग्री के समुच्चय के द्वारा सुनिश्चित किया जाता है।***[93] इसलिये ***बहिरंग कारण–सामग्री से निरपेक्ष — मात्र उपादान ही के सद्भाव में किसी योग्यता की 'व्यक्ति' का निश्चितपना असम्भाव्य है, कोरी कल्पना का विषय है।*** इसका खुलासा इस प्रकार है : किसी विवक्षित उपादान–पदार्थ के विवक्षित कार्य के सन्दर्भ में, सुदूर भविष्य में भी सम्भावित बहिरंग कारणों की पृथक्–पृथक् पर्यायें चूँकि केवलज्ञान के विषयभूत हैं, अतः उस उपादान और सम्भावित निमित्तों की (उपादान के विवक्षित परिणमन में अनुकूल पड़ने वालीं) तत्तद् पर्यायों के क्षेत्रविशेष–कालविशेष में सान्निध्य के होने पर ही[94] उनमें निमित्त–नैमित्तक सम्बन्ध स्थापित होते हुए, विवक्षित कार्य घटित होगा — यह सब तथ्य "अनन्तानन्त लोकालोकों को भी, ज्ञेयों से बिना तन्मय होते हुए, जानने में समर्थ" केवलज्ञान द्वारा भले ही जाना जाए, परन्तु ऐसी 'घटना' का निश्चितपना एक–अकेले उपादानरूपी ज्ञेयपदार्थ में यदि कल्पित किया जाएगा तो वह वैसे ही हास्यास्पद होगा, जैसे कि यह कहना कि "गांधी का मरण गोडसे नामक व्यक्ति की अमुक पिस्तौल से चलाई गई अमुक गोली द्वारा होगा, यह सब गांधीरूपी उपादान में पहले से ही निश्चित रहा होना चाहिये!"[95] [स्पष्टतः हास्यास्पद होने के बावजूद भी, जो लोग ऐसी ही मान्यता बनाए हुए हैं, उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिये : 'गोडसे' नामक शरीर में रहने

वाला चेतनपदार्थ, उसका संयोगी द्रव्यकर्म, उसका संयोगी स्थूल औदारिक शरीर, वह पिस्तौल, वे गोलियाँ (तथा अन्यान्य जड़–चेतनपदार्थ भी जिनका कि सहयोग रहा होगा) — उन सबका परिणमन स्वतन्त्र हुआ कि परतन्त्र? यदि स्वतन्त्र हुआ तो उस घटना का तथाकथित पूर्वनियतपना नहीं बनता। और यदि 'परतन्त्र हुआ' कहते हो तो जिनागम के अनुसार 'प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्रता' के मूल सिद्धान्त[96] के ही खण्डित होने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।]

प्रस्तुत तथा पिछले अनुच्छेद की विचारणा से सुस्पष्ट है कि अनन्त ज्ञेयपदार्थों की उन सभी पर्यायों/घटनाओं को केवलज्ञानी जानते हैं जिनकी व्यक्ति अनेक पदार्थों के बीच होने वाले पारस्परिक निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धों की अपेक्षा रखती है, और इसलिये उन पर्यायों की सम्भाव्यता एक–अकेले उपादान पदार्थ को दृष्टि में लेने पर कदापि लक्षित नहीं की जा सकती। श्रीकुन्दकुन्दादि आचार्यों के अनुसार, ***केवलज्ञान उन पर्यायों को जानता है जिनका कि ज्ञेयपदार्थ में वर्तमान में असद्भाव है;*** यही कारण है कि ***आचार्यों ने ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण बतलाया है,[97] किन्तु ज्ञेय को ज्ञानप्रमाण कभी नहीं बतलाया।*** किन्तु ज़रा देखिये कि आधुनिक नियतिवाद के प्रचारक क्या कहते हैं : "जो कुछ वस्तु में होता है वह सब केवली जानता है, और जो कुछ केवली ने जाना है वह सब वस्तु में होता है।"[98] उनके इस वक्तव्य (statement) के पूवार्द्ध से हमें कोई विरोध नहीं है, चूँकि वह आगम–सम्मत है — "जो कुछ वस्तु में होता है वह सब केवली जानते हैं," यह सभी जैनों को निर्विवादित रूप से मान्य है। अब उत्तरार्द्ध पर ध्यान दीजिये : **जो कुछ केवली ने जाना है वह सब वस्तु में होता है।** यहाँ हम एक प्रश्न पूछना चाहेंगे : केवली भगवान् ने वर्तमान म किसी विवक्षित वस्तु की जो भूत–भविष्यत् पर्यायें जानी हैं, वे सब उस वस्तु में किस रूप से हैं — (क) व्यक्ति–रूप–से या (ख) शक्ति–रूप–से? ज़ाहिर है कि इस सवाल के दो ही जवाब हो सकते हैं : 'क' अथवा 'ख'। यदि वे इसका जवाब 'क' में देते हैं तो बड़ी भारी आपत्ति आ खड़ी होगी — एक पदार्थ में एक–साथ भूतभविष्यत्कालसम्बन्धी अनन्त पर्यायें प्राप्त हो जाने का जिनागम–विरुद्ध (किन्तु सांख्यमतानुकूल) प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। दूसरी ओर, यदि वे इसका जवाब 'ख' में देते हैं तो भूतभविष्यत्कालसम्बन्धी अनन्त पर्यायशक्तियों या योग्यताओं का आगम–सम्मत अस्तित्व उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप, 'एक काल में एक

पर्यायशक्ति/योग्यता' का उनका स्वकल्पित नियम खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाएगा।

19. भूत-भविष्यत् पर्यायें — ज्ञेयपदार्थ के अस्तित्व में निश्चय से असद्भूत; अतः ज्ञेयपदार्थ की स्वयं की अपेक्षा, निश्चय से अनिश्चित/अनियत

स्वामीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथाचतुष्क 319-22 में कहा गया है : (अपने परिणामों को सँभालने के प्रयोजनवश) ***सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि*** पदार्थों-परिस्थितियों का भविष्यत्कालीन परिणमन जैसा **केवलज्ञानी द्वारा नियत अर्थात् निश्चित रूप से जाना गया है** वैसा घटित होगा (अतः उन पदार्थों-परिस्थितियों को अन्यथा परिणमाने के मेरे रागद्वेषात्मक विकल्प निरर्थक हैं; और फिर, वे कर्मबन्ध के होने में कारण हैं)। इसी प्रकार, *प्रवचनसार,* गाथा 38 की *तत्त्वप्रदीपिका* टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है : **परिच्छेदं प्रति नियतत्वात्...** अर्थात् "प्रत्यक्षज्ञान के प्रति अथवा प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा नियत अथवा निश्चित ज्ञात होने से ... ।"

केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को स्पष्ट एवं निश्चित जानता है, इसमें कोई सन्देह नही। अतः उक्त कथनों को उतना ही मानें — स्वामी समन्तभद्र के शब्दों में, **अन्यूनं अनतिरिक्तम्**[99] अर्थात् न उससे कम मानें और न ही ज़्यादा मानें — तब तो ठीक है; क्योंकि अभी ऊपर चर्चा कर ही आए हैं कि केवलज्ञान की ऐसी दिव्य महिमा है कि वह उन पर्यायों को भी स्पष्ट एवं निश्चित रूप से जानता है जिनका ज्ञेयपदार्थ में वर्तमान में अस्तित्व नहीं है।

परन्तु विशिष्टज्ञानी, वीतरागी आचार्यों के उक्त वचनों की अपनी मान्यता/कल्पना के अनुसार व्याख्या करके, यदि हम ज्ञेयपदार्थ के परिणमन को ***"उस ज्ञेयपदार्थ की, स्वयं की अपेक्षा भी नियत या निश्चित"*** मानते हैं तो इस लेख के प्रारम्भ में *गोम्मटसार* से उद्धृत की गई गाथा 882 ही हमारी ऐसी मान्यता पर लागू पड़ेगी और हम 'एकान्त नियतिवादी' होने के अपराध से कदापि नहीं बच पाएंगे। कारण यह कि :

(क) **सम्यग्दृष्टि का उपर्युक्त अनुप्रेक्षात्मक विचार स्पष्टतः एकनयावलम्बी है** (जैसा कि अनित्य, अशरण आदि सभी अनुप्रेक्षात्मक विचारणाएं एक-एक नय का अवलम्बन लेकर ही की जाती हैं); **अतः अपने प्रतिपक्षी नय के सापेक्ष है।**

(ख) "भूत–भविष्यत् पर्यायें **प्रत्यक्षज्ञान के प्रति, या प्रत्यक्षज्ञान की अपेक्षा नियत अर्थात् निश्चित हैं**" — अनेकान्त का प्रखर दुन्दुभिघोष करने वाले, एवं अनेकान्त को **परमागम का प्राणभूत**[100] प्ररूपित करने वाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य का यह नयावलम्बी कथन भी, स्वाभाविक रूप से अपने प्रतिपक्षी नय के विषयभूत इस कथन की सापेक्षता रखता है कि **ज्ञेयपदार्थ के स्वयं के प्रति अथवा ज्ञेयपदार्थ की अपेक्षा नियत अथवा निश्चित नहीं हैं**; क्योंकि ज्ञेयपदार्थ के निज अस्तित्व में ही जब उन भूत–भविष्यत् पर्यायों का निश्चय से असद्भाव है, तब ज्ञेयापेक्षया उनके नियत या निश्चित होने का प्रश्न ही कैसे पैदा हो सकता है?

यह एक मूलभूत, किन्तु बहुत ही सरल–स्पष्ट मुद्दा है जिस पर आज के विद्वानों को निष्पक्ष व पूर्वाग्रहरहित होकर विचार करने की ज़रूरत है : **भूत–भविष्यत् पर्यायें केवलज्ञान में झलकी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु उस ज्ञानापेक्ष निश्चितपने को जैसे ही हम ज्ञेयपदार्थ पर आरोपित करते हैं — जिसके अस्तित्व में उन पर्यायों का निश्चय से असद्भाव है — तो हमारा यह आरोपण निस्सन्देह 'उपचार' की कोटि में आता है।** यह बात हमें भली–भाँति समझ में आ जाएगी :

(क) यदि हम इस सत्य को स्मृति में बनाए रखें कि **ज्ञान और ज्ञेयों के बीच कोई कारण–कार्य सम्बन्ध जिनागम में कदापि स्वीकार नहीं किया गया है** (कृपया देखें, अगले अनुच्छेद की चर्चा); तथा

(ख) यदि हम 'यथार्थ', 'वास्तविक' आदि शब्दों के भाव को सम्यक् रीति से हृदयंगम करें : यथा = जैसा; अर्थ = ज्ञेयपदार्थ; 'यथार्थ' = जैसा ज्ञेयपदार्थ है, वैसा ही जानना, निरूपण करना, इत्यादि। 'वास्तविक' शब्द मूलतः 'वस्तु' शब्द से ही बना है, अतः 'वास्तविक' = जैसी वस्तु है, वैसा ही जानना, निरूपण करना, इत्यादि। साफ़ ज़ाहिर है कि जब ज्ञेयपदार्थ या वस्तु के अस्तित्व में भूत–भविष्यत् पर्यायों का असद्भाव है, तब ***ज्ञेयपदार्थ अथवा वस्तु की अपेक्षा उनकी (भूत–भविष्यत् पर्यायों की) निश्चितता कहना 'यथार्थ' या 'वास्तविक' कैसे हो सकता है?***

(ग) यदि अब भी किसी जिज्ञासु की समझ में यह बात न बैठ रही हो तो उसे स्वामी समन्तभद्र द्वारा हम छद्मस्थों के सन्दर्भ में कही गई, *आप्तमीमांसा* की इस कारिका का अध्ययन करना चाहिये :

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति, नासति।
सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेर्थाप्त्यनाप्तिषु।। 87।।

अर्थ : बुद्धि और शब्द में प्रमाणता बाह्य अर्थ यानी ज्ञेय के होने पर होती है, बाह्य अर्थ के अभाव में नहीं। बाह्य अर्थ की प्राप्ति होने पर सत्य की व्यवस्था, और प्राप्ति न होने पर असत्य की व्यवस्था की जाती है।

इसकी *अष्टसहस्री* टीका में आचार्य विद्यानन्दि लिखते हैं : (हम छद्मस्थों को) स्वयं अपने को ज्ञान करने के लिये बुद्धि रूपी साधन की आवश्यकता होती है, और दूसरों को ज्ञान कराने के लिये शब्दरूपी साधन की आवश्यकता होती है। बुद्धि और शब्द में प्रमाणता तभी हो सकती है, जब बाह्य पदार्थ का सद्भाव हो।[101]

(घ) पुनश्च, *षट्खण्डागम* के टीकाकार श्रीमद् वीरसेनाचार्य के ये वचन भी इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं : "**ज्ञेय का अनुसरण करने वाला होने से** अथवा न्यायरूप (युक्त्यात्मक) होने से **सिद्धान्त को न्याय्य** (correct, right, proper) **कहा जाता है।**"[102]

इस प्रकार, सुस्पष्ट है कि **ज्ञेयपदार्थ में 'भूत–भविष्यत् पर्यायों का निश्चितपना' मात्र उपचार से ही कहा जा सकता है।** जिन तत्त्वजिज्ञासुओं को इस विषय में अब भी कोई शंका रह गई हो, उन्हें आगम में निरूपित 'द्रव्यनिक्षेप' के स्वरूप को भली–भाँति समझना चाहिये। भूत अथवा भावी नैगमनय का आश्रय लेकर, वह (द्रव्यनिक्षेप) भूत या भावी पर्याय को "वर्तमान में है" ऐसा कथन करता है; जैसे, राजा ऋषभदेव को 'जिनेन्द्र' कहना;[103] अथवा अतीतपर्याय को स्मृति में लाकर किसी मुनि को 'राजा' कहना।[104] लोक में अथवा आगम में वचनव्यवहार के प्रयोजन को वे भले ही निभाते हों, किन्तु सर्वमान्य है कि नैगमनयाश्रित ऐसे कथन वर्तमानकालवर्ती पदार्थ की अपेक्षा उपचाररूप हैं। यहाँ, ध्यान देने योग्य है कि ***द्रव्यनिक्षेप के प्रयोक्ता द्वारा, विवक्षित पदार्थ में आरोपित की गई अतीत–अनागत पर्यायें, वर्तमानकाल में उस प्रयोक्ता (व्यक्ति) के ज्ञान में होती हैं, न कि उस पदार्थ में।*** इसलिये, कोई भी व्यक्ति — जो भूत–भविष्यत् पर्यायों के परज्ञानाश्रित/प्रत्यक्षज्ञानाश्रित 'निश्चितपने' को विवक्षित द्रव्य में वर्तमान में आरोपित करेगा — उसका वह कथन भी, इसी प्रकार, निस्सन्देह 'उपचरित' ही होगा।

इस प्रकार, जिनागम के मूलतम दार्शनिक सिद्धान्त 'अनेकान्तवाद' के अनुरूप ही, किसी भी **पदार्थ का भूत–भविष्यत्कालीन परिणमन**

नियत–अनियतात्मक सिद्ध होता है — केवलज्ञान में झलकने की अपेक्षा कथंचित् नियत (निश्चित) कहलाते हुए भी, उस पदार्थ के स्व–अस्तित्व की अपेक्षा कथंचित् अनियत (अनिश्चित) है।

20. केवलज्ञान में जीव–वस्तु के परिणमन का झलकना उसके वैसे परिणमन का कारण नहीं है

सभी द्रव्यों की मूल स्वतन्त्रता का उद्‌घोष करने वाले द्रव्यानुयोग के अनुसार, किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थ का परिणमन कदापि केवलज्ञान के अधीन नहीं हो सकता। जितने भी लोक में पदार्थ हैं उन सबका केवलज्ञान के साथ मात्र ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध है, कार्य–कारण सम्बन्ध नहीं है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि "केवलज्ञान में झलका, इसलिये वस्तु का वैसा **ही** परिणमन होगा" — **वे उस वस्तु और केवलज्ञान के बीच कार्य–कारण सम्बन्ध मानते हैं।** अन्यमतावलम्बी, जड़–चेतन सभी वस्तुओं का परिणमन जिस प्रकार एक ईश्वर की इच्छा के अधीन मानते हैं, उसी प्रकार की यह मान्यता भी ठहरी! वे 'ईश्वरेच्छाधीन' मानते हैं, हमारे नियतिवादी बन्धुओं ने 'केवलज्ञानाधीन' मान लिया! विडम्बना (irony) यह है कि केवलज्ञानी द्वारा प्रणीत एवं निःस्पृह निर्ग्रन्थ आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा से हमें प्राप्त तत्त्वोपदेश में ऐसा कुछ भी नहीं मिलता जिसके आधार पर कोई पाठक ऐसी मान्यता बना सके! ज़ाहिर है कि चारों अनुयोगों के शास्त्रों के पारस्परिक सापेक्षतापूर्वक गंभीर अध्ययन करने का श्रम न करके, इन लोगों ने अपने आधे–अधूरे अध्ययन के आधार पर, आचार्यों द्वारा सन्दर्भविशेष के अन्तर्गत, प्रयोजनविशेष के वश कहे गए वचनों का, सन्दर्भ–निरपेक्ष/प्रयोजननिरपेक्ष एवं स्वकल्पित अर्थ ग्रहण किया है।

"केवलज्ञान में झलका, इसलिये वस्तु का वैसा **ही** परिणमन होगा" — ऐसी मान्यता के धारक महानुभाव **उस वस्तु और केवलज्ञान के बीच अपने अन्तरंग में तो कार्य–कारण सम्बन्ध ही मानते हैं; भले ही इस बात को चाहे जिन शब्दों के द्वारा वे दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करें।** कुछ भी हो, किन्तु जिनागम के अनुसार ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध के बजाय कार्य–कारण सम्बन्ध मानना सही नहीं, प्रत्युत मिथ्या है। सम्यक् वस्तुस्थिति यह है कि उपादान वस्तु ने जैसा परिणमन किया, कर रही है, अथवा करेगी, वैसा केवलज्ञान का ज्ञेय है — यही ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध है।

उन महानुभावों की अपनी अन्तरंग मान्यताएं क्या हैं, यह तो वे ही जानें, किन्तु लिखित रूप में तो उन्हें भी स्वीकार करना पड़ता है कि "वस्तु का

परिणमन भगवान के ज्ञान के अधीन नहीं है। जिस रूप में वस्तु स्वयं परिणमित हुई थी, हो रही है, और होगी; भगवान ने तो उसको उस रूप में मात्र जाना है। ज्ञान तो पर को मात्र जानता है, परिणमाता नहीं।"[105] ***बहुत अच्छी बात है, कम–से–कम लिखित रूप में तो इस सत्य को हमारे आधुनिक नियतिवादी बन्धु भी स्वीकार करते हैं कि केवलज्ञान के साथ ज्ञेयों का कोई कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं है।***

किन्तु, 'प्राचीन नियतिवाद' का कोई समर्थक यहाँ आपत्ति प्रस्तुत करता है : "हमारी तरह, स्वतन्त्र नियतितत्त्व को आप मंज़ूर नहीं करते, क्योंकि आप दावा करते हो कि आपका सर्वज्ञकथित कर्मसिद्धान्त समस्त लौकिक और पारमार्थिक वस्तुस्थितियों की सटीक व्याख्या कर सकता है! मात्र सर्वज्ञ के ज्ञान की अपेक्षा नियति मानते हो! वहाँ भी, एक ओर, आप सर्वज्ञ के ज्ञान को वस्तुओं के परिणमन का कारण नहीं मानते, और दूसरी ओर, एक गाथा का हवाला देकर नियति को पाँच कारणों में गिनाते हो? आपकी मान्यताओं में क्या यह अन्तर्विरोध नहीं है? इस अन्तर्विरोध को दूर करने का एक ही तरीक़ा है — आपको हमारी तरह नियतितत्त्व को स्वीकार कर लेना चाहिये।"

हमें नहीं मालूम कि हमारे आधुनिक नियतिवादी बन्धुओं के पास उक्त आपत्ति का युक्तियुक्त समाधान है कि नहीं। यदि है, तो हम भी जानना चाहेंगे कि वे क्या उत्तर देते हैं। यदि नहीं, तो हम निवेदन करना चाहेंगे कि ऊपर के अनुच्छेदों में किये गए विस्तृत एवं निष्पक्ष विश्लेषण के आधार से, इस आपत्ति का न्याय, युक्ति एवं आगमानुकूल तरीक़े से अवश्य ही निरसन किया जा सकता है।

उपर्युक्त परमती, प्राचीन नियतिवादी को उत्तर देने से पहले, तनिक एक प्रश्न पर आपस में विचार कर लें। सन्मतिसूत्र की गाथा में उल्लिखित पाँचों कारण अथवा हेतु क्या एक ही कोटि (category) के हैं? आगम के आलोक में विचार करने पर पाते हैं कि नहीं, पाँचों हेतु एक कोटि के नहीं कहे जा सकते; क्योंकि परमार्थ दृष्टि से तो उपादान ही एकमात्र 'कारण' ठहरता है;[106] और उक्त पाँच में से केवल दो — स्वभाव/संस्कार एवं पुरुषार्थ — ही 'उपादान कारण' की कोटि में गर्भित किये जा सकते हैं। जिनागम में अगली कोटि साधन अथवा निमित्त कारण की कही गई है।[107] संसारी जीव के सन्दर्भ में निमित्त कारण, चूँकि अन्तरंग और बहिरंग के भेद से दो प्रकार के होते हैं, इसलिये प्रकृत गाथा में कहा गया 'पूर्वकृत' अन्तरंग निमित्त की कोटि में आएगा [जबकि, मोक्षमार्ग के प्रकरण में, वीतराग–सर्वज्ञ–हितोपदेशीस्वरूप आप्त, ऐसे आप्त द्वारा प्रणीत आगम, और ऐसे आगम के अनुरूप आचरने वाले

सम्यग्ज्ञानी, निष्परिग्रही गुरु आदि बहिरंग निमित्तों की कोटि में आएंगे]। अब, शेष बचे, 'काल' एवं 'नियति'। क्या इन दोनों का स्तर उपादान का है? उत्तर है कि नहीं। तो, क्या इनका स्तर निमित्त का है? ज्ञातव्य है कि निमित्त का निरूपण करते हुए आर्ष आचार्यों ने 'प्रत्यासत्ति' अथवा 'सान्निध्य' को निमित्त की अवधारणा का आवश्यक अंग बतलाया है;[108] और इसीलिये निमित्त को 'सन्निधिप्रत्यय' भी कहा गया है।[109] जहाँ तक कालाणुओं की बात है सो उनका सान्निध्य तो जीव–पुद्गलादि को मिला ही हुआ है, और कालद्रव्य को सभी द्रव्यों के परिणमन में साधारण अथवा उदासीन निमित्त माना ही गया है। अस्तित्वमय कालद्रव्य तो जिनागम में स्वीकार्य है; किन्तु 'नियति' तो कोई सत्तायुक्त पदार्थ है नहीं, फिर नियति के साथ विवक्षित जीवपदार्थ का सान्निध्य कैसे बन सकेगा (जिस जीवपदार्थरूपी उपादान की कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सम्पूर्ण लेख प्रस्तुत है)? तात्पर्य यह है कि **'नियति' को निमित्त की कोटि में रखने पर, अस्तित्वविहीन आकाशपुष्प, वन्ध्यापुत्र आदि को भी निमित्त मानने का प्रसंग आ खड़ा होगा**। तो फिर, कौन सी कोटि में रखना चाहिये, 'नियति' को? विशेषतः पिछले दो–तीन अनुच्छेदों में किया गया विश्लेषण स्वतः उत्तर पेश करता है — जिनागम के ज्ञाता महान, आर्ष आचार्यों द्वारा निरूपित 'कारण', 'साधन/निमित्त' आदि की अवधारणाओं के साथ संगति (consistency) बनाए रखना तभी सम्भव हो सकेगा जब सन्मतिसूत्र की गाथा में उल्लिखित 'नियति' को एक 'उपचरित हेतु' माना जाए। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उत्तर प्राचीन नियतिवादी की उपर्युक्त आपत्ति का भी न्यायानुकूल, युक्तियुक्त एवं आगमानुसारी समाधान प्रस्तुत करता है। (नियति को उपचरित हेतु मानने के पीछे आचार्यों का क्या प्रयोजन रहा है, इसकी चर्चा अनुच्छेद 22 में करेंगे।)

ऊपर कालद्रव्य का ज़िक्र किया, सो कालद्रव्य का सान्निध्य ही क्या काललब्धि है? यदि 'हाँ', तो पुनः एक आपत्ति आ खड़ी होगी : जो समस्त जीवों के लिये एक–सदृश है, ऐसा वह कालद्रव्य (निश्चयकालरूपी शुद्ध पदार्थ, जो कि उदासीन निमित्त है) विभिन्न संसारी जीवों के विभिन्न कार्यों में विविधरूप से हेतु कैसे हो सकेगा? तब फिर, क्या अमुक जीव के लिये अमुक 'व्यवहार काल' का कोई महत्त्व हो सकता है? इस प्रश्न पर विचार अनुच्छेद 23 में करेंगे।

21. भविष्यत् पर्यायें : उनका केवलज्ञान में झलकना साधक के लिये मात्र श्रद्धा का विषय है, न कि प्रवृत्ति का

संसरणरूप और मोक्षमार्गरूप, दोनों ही प्रकार का परिणमन मूलतः इस जीव

नामक वस्तु के स्वयं के उपादान की अपेक्षा से है। केवलज्ञान का त्रिकालवर्ती पर्यायोंरूप विषय हमारे लिये मात्र श्रद्धा की विषयवस्तु है; हम जीवद्रव्यों की ***प्रतिक्षण होने वाली प्रवृत्ति*** "केवलज्ञान में हमारे विषय में क्या झलका" इससे प्रेरित नहीं हो सकती। इसका गौण कारण तो यह है कि इस बात का न तो हमें ज्ञान है, और न ही हो सकता है; तथा मुख्य कारण यह है कि निज उपादान–आधारित कारणकार्यभाव का आश्रय लेकर ही प्रत्येक जीवपदार्थ का परिणमन होना सम्भव है, और होता भी है।

दूसरे शब्दों में, अपने मति–श्रुतज्ञान का आश्रय लेकर (जितना भी मति–श्रुतज्ञान वर्तमान में हमें उपलब्ध है, उसी का आश्रय लेकर) अपनी परिणति को सुधारने के लिये — वीतरागी, सम्यग्ज्ञानी, आर्ष आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध आगम के माध्यम से जो केवलज्ञानी–प्रणीत उपदेश हमें वर्तमान में प्राप्त है, उसी का अनुसरण करते हुए — हमें अपनी वर्तमान भूमिका के अनुरूप प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्ग को अपनाना है। यह बात भी अवश्य है कि हमारी वह प्रवृत्ति गुणस्थानों के अनुसार हमारी कषायादिक की जो भी वर्तमान स्थिति है उसकी भी सापेक्षता अवश्य रखेगी।

22. *स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा* के कथन का सम्यग् अभिप्राय

स्वामी कुमार द्वारा रचित अनुप्रेक्षा–ग्रन्थ की, वर्तमान समय में बहुचर्चित गाथाएं ग्रन्थ के बारहवें प्रकरण 'धर्मानुप्रेक्षा' के अन्तर्गत आई हैं। पहले सम्यग्दृष्टि के तत्त्वश्रद्धान का स्वरूप समझाकर फिर वहाँ गाथाचतुष्क 319–22 द्वारा बताया गया है कि विभिन्न लौकिक परिस्थितियों से गुज़रते हुए अविरत सम्यग्दृष्टि साधक किस प्रकार के चिन्तवन के अवलम्बन से स्वयं को तीव्र रागद्वेषात्मक विकल्पों में बह जाने से रोकता है :

ण य को वि देदि लच्छी को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।।
भत्तीए पुज्जमाणो विंतर–देवो वि देदि जदि लच्छी।
ते किं धम्मे कीरदि *एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी*।।
जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा।।
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्केदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा।।319–322।।

अर्थ : (अज्ञानीजन भले ही कहते फिरते हों कि हरि, हर आदि 'देवता' धन आदि देते हैं अथवा उपकार करते हैं, किन्तु) **सम्यग्दृष्टि चिन्तवन करता है कि** न तो कोई जीव को लक्ष्मी देता है और न ही कोई उसका उपकार करता है; वास्तव में **जीव के स्वयं के शुभाशुभकर्म ही उसका उपकार अथवा अपकार करते हैं;** यदि भक्ति से पूजा करने से व्यन्तर देवादिक भी लक्ष्मी दे सकते होते तो फिर धर्म (अर्थात् शुभभाव) करने की क्या आवश्यकता? **सम्यग्दृष्टि का चिन्तवन पूर्ववत् जारी है**[110] ***कि ये जीवन-मरण, लाभ-हानि आदि लौकिक परिस्थितियाँ मेरे करने से नहीं बदलेंगी, अतः मुझे इनको बदलने की इच्छा करना व्यर्थ है;*** क्योंकि जिस जीव के, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण (एवं उपलक्षण से लाभ-हानि, सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख, इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग आदि) जिनदेव ने नियत अर्थात् निश्चित रूप से जाना है; उस जीव के, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे टाल सकने में इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन समर्थ है?

निचली भूमिका में स्थित साधक (अविरत सम्यग्दृष्टि) को श्रद्धान है कि "पर कभी मेरा बुरा-भला नहीं कर सकता, सम्पत्ति-विपत्ति नहीं दे सकता" क्योंकि निमित्त को कर्ता मानने के मिथ्याभाव का वह निरसन कर चुका है; तथापि आत्मबल की कमी से, अब भी परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टता की कल्पना कर बैठता है। उपर्युक्त गाथाचतुष्क की पहली दो गाथाओं द्वारा दर्शाया गया है कि ऐसी स्थिति आने पर, अशुभ विकल्पों को तोड़ने के लिये वह सर्वज्ञकथित समीचीन कर्मसिद्धान्त पर आधारित भावना भाता है कि :

> अपने उपार्जित कर्मफल को जीव पाते हैं सभी,
> इसके सिवा कोई किसी को कुछ नहीं देता कभी।
> ऐसा समझना चाहिये एकाग्र मन होकर सदा,
> दाता अपर है भोग का इस बुद्धि को खोकर सदा।।[111]

तदनन्तर, अगली दो गाथाओं द्वारा दर्शाया गया है कि अविरत सम्यग्दृष्टि जन्म-जरा-मरण, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि स्थितियों के आने पर तीव्ररागद्वेषात्मक विकल्पों से बचने के लिये, किस तरह उपर्युक्त **ज्ञानापेक्ष नय के विषयभूत, कथंचित् निश्चितपने के कथन को प्रयोजनवश मुख्य करके** चिन्तवन करता है, भावना भाता है। उसकी यह भावना यद्यपि शुभभावरूप ही है, इसलिये परमार्थतः बन्ध का ही कारण है; तथापि **तीव्र अशुभबन्ध के कारणभूत तीव्ररागद्वेषरूप विकल्पों की अपेक्षा यह "कम घाटे वाला विकल्प" है।**

ध्यान देने योग्य है कि आचार्यश्री ने ऐसा तो नहीं कहा कि "हे साधक! केवली भगवान् के ज्ञान में 'जो तेरे चित्त में अशुभ विकल्प होने' झलके हैं, सो तो होंगे ही;" प्रत्युत **आचार्यश्री ने तो उक्त गाथाचतुष्क द्वारा निचली भूमिका में स्थित साधक को भी अपने परिणामों की समाँल करने के हेतु, विचारणा/चिन्तवन/भावना/अनुप्रेक्षारूपी पुरुषार्थ करने की ही प्रेरणा दी है।**

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा का उपर्युक्त गाथाचतुष्क तो सभी के लिये जाना-पहचाना है; इस स्थल से आगे जाकर भी, देशविरति की ग्यारह प्रतिमाओं के निरूपण के अन्तर्गत, दसवीं अनुमतिविरत प्रतिमा का कथन करते हुए, स्वामी कुमार कहते हैं : "जो श्रावक 'जो होना है वह होगा ही' ऐसा विचार कर पाप के मूल गार्हस्थिक कार्यों की अनुमोदना नहीं करता, वह अनुमोदनाविरति प्रतिमा का धारक है।"[112] यहाँ भी **आचार्यश्री ने यही दर्शाया है कि प्रयोजनवश नियतिपरक विचारणा का अवलम्ब लेकर, अशुभकार्यविषयक रागद्वेषात्मक विकल्पों से स्वयं को बचा कर, प्रतिज्ञापूर्वक ग्रहण किये गए व्रतों में अपने को दृढ़ रखने का पुरुषार्थ साधक किस प्रकार कर सकता है।**

इसी प्रकार, मोक्षपाहुड की गाथा 86 के भावार्थ में पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं : "श्रावक पहले तो निरतिचार, निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसका ध्यान करे। सम्यक्त्व की इस भावना से गृहस्थ के जो गृहकार्यसम्बन्धी आकुलता, क्षोभ, दुःख होता है वह मिट जाता है; **कार्य के बिगड़ने-सुधरने में वस्तु के स्वरूप का विचार आवे तब दुःख मिटता है।** ***सम्यग्दृष्टि के ऐसा विचार होता है*** कि वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जाना है वैसा निरन्तर परिणमता है, वही होता है; ***इष्ट-अनिष्ट मानकर दुःखी-सुखी होना निष्फल है।*** **ऐसे विचार से दुःख मिटता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है**; इसीलिये सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा है।"

उपर्युक्त के अलावा एक और उदाहरण, पद्मपुराण में वर्णित जटायु नामक गिद्ध पक्षी के आख्यान का, स्मृतिपटल पर आता है। दण्डकवन में राम-सीता के द्वारा जिन्हें आहारदान दिया गया था, उन चारणऋद्धिधारी मुनिद्वय को देखकर उस पक्षी को अपने पूर्वभवों का स्मरण हो आया कि सुदूर अतीत में 'दण्डक' नामक अतिक्रूर राजा की पर्याय में उसने वीतरागी मुनियों पर कैसे अत्याचार किये थे। जातिस्मरण के उपरान्त स्वयं को बार-बार धिक्कारता हुआ, तदनन्तर सुदृष्टि को प्राप्त हुआ वह पक्षी जब अत्यंत

भाव–विह्वल होकर रोने लगा; तब **उन अवधिज्ञानी मुनिराज ने प्रयोजनवश नियतिपरक कथन की मुख्यता का आश्रय लेकर उस सद्‌दृष्टि गृध्रपक्षी को सम्बोधित करके उसको धीरज बँधाया, उसका स्थितिकरण किया।**[113]

इस प्रकार, **नियति की मुख्यता का प्रतिपादन करने वाले कथन की यदि कोई आगम–सम्मत भूमिका, कोई रोल** (role) **साधक के जीवन में बनता है, तो वह उसके परिणामों की सँभाल के लिये अवलम्ब के रूप में ही बनता है।** यहाँ कोई शंका करता है : नियति जब एक उपचरित हेतु है तो वह किसी के परिणामों की संभाल में अवलम्ब कैसे हो सकती है? इसका उत्तर इस प्रकार है : मालूम देता है कि शंकाकार ने 'उपचार' के प्रयोजन का मर्म नहीं समझा। जिस प्रकार, जिनेन्द्रदेव के समान नासाग्रदृष्टि एवं स्वरूपलीन मुद्रा वाली पाषाण आदि की प्रतिमा में उनका ***प्रयोजनवश आरोपण*** करना तदाकार स्थापना है; यद्यपि ऐसी स्थापना परमार्थतः उपचार है, तथापि यह जीव उस प्रतिमा या 'स्थापनाजिनेन्द्र' के अवलम्बन से परमस्वरूपलीन 'भावजिनेन्द्र' के 'दर्शन' करके, तदनन्तर उस जिनदर्शन को माध्यम बनाकर (अर्हन्त के द्रव्य–गुण–पर्याय का अपने द्रव्य–गुण–पर्याय से मिलान करते हुए)[114] निजदर्शन को भी प्राप्त कर सकता है; यही कारण है कि जिनबिम्बदर्शन को सम्यग्दर्शन का एक मुख्य निमित्त बतलाया गया है। इसी प्रकार, केवलज्ञान–सापेक्ष निश्चितपने को ***ज्ञेयपदार्थों–परिस्थितियों में आरोपित करके,*** और उन पदार्थों–परिस्थितियों के (जिनसे यह जीव रागवश जुड़ रहा था) 'निश्चितपने' को ***प्रयोजनवश मुख्य करके,*** तदनन्तर उसके अवलम्बन से केवलज्ञान का श्रद्धालु यह जीव यदि भावनारूप पुरुषार्थ करे तो अपने परिणामों की सभाँल कर सकता है (यद्यपि 'पराश्रित निश्चितता' का यह आरोपण, ऊपर के उदाहरण की भाँति, परमार्थतः उपचार ही रहेगा)। ज्ञातव्य है कि मोक्षमार्ग में इस जीव के उपादान की ही मुख्यता है, तथापि निचली भूमिकाओं में उसे अवलम्बनों की ज़रूरत भी अवश्य ही पड़ती है।

इस चर्चा से स्पष्ट है कि 'नियति' एक भावना है; और अनित्य, अशरणादिक अन्यान्य भावनाओं की तरह ही एकनयावलम्बी है[115] (जबकि वस्तुस्वरूप अनेकान्तात्मक है)। **भावनायें चित्त के समाधान के लिये भायी जाती हैं और उनसे वह प्रयोजन सिद्ध भी होता है; परन्तु तत्त्वव्यवस्था के क्षेत्र में भावना का उपयोग नहीं है। वहाँ तो**

वैज्ञानिक विश्लेषण और तन्मूलक कार्यकारणभाव की परम्परा का ही कार्य है; उसी के बल पर पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का निर्णय किया जा सकता है।[116]

23. *स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा,* गाथा 323 का सम्यग् अभिप्राय

स्वामी कुमार की कृति में संख्या 323 पर है, यह गाथा :

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्व–पज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठी।। 323।।

सर्वप्रथम इसका सन्दर्भ समझना उचित होगा। जैसा कि पहले भी कह आए हैं, ये गाथाएं 'धर्मानुप्रेक्षा' प्रकरण के अन्तर्गत आई हैं। वहाँ पहले 'धर्म के मूल' सर्वज्ञदेव का स्वरूप; फिर श्रावक व मुनि के लिये सर्वज्ञोक्त धर्म के भेद; तदनन्तर श्रावकधर्म के चौथे–पांचवें गुणस्थानसम्बन्धी बारह भेद बतलाकर; सम्यक्त्वोत्पत्ति के लिये ज़रूरी योग्यता का निर्देश करके, फिर उपशमादि सम्यक्त्व का लक्षण, और सम्यक्त्व–देशव्रतादि के ग्रहण करने/छोड़ने की संख्या बताई है। तदनन्तर सात गाथाओं (311–17) द्वारा सम्यग्दृष्टि के तत्त्वश्रद्धान का स्वरूप निरूपित करके, परिणामों की सँभाल में उपयोगी (पिछले अनुच्छेद में चर्चित की जा चुकीं) चार गाथाएं कही हैं। तब, अविरत सम्यग्दृष्टि के निरूपण को पूरा करने के क़रीब होने पर, आचार्यश्री ने ऊपर की गाथा 323 कही है जिसका भावार्थ है कि :

द्रव्य–गुण–पर्याय, जीव–पुद्गलादि छह द्रव्य, जीवादि सप्ततत्त्व– नवपदार्थ, उपादान/निमित्त कारण–कार्यादि, इन सबका जो–जो सर्वज्ञोक्त स्वरूप स्वामी कुमार ने लोकानुप्रेक्षा आदि विभिन्न अनुप्रेक्षाओं के विस्तृत निरूपण के दौरान, इस स्थल तक प्रतिपादित किया है — (**एवं जो णिच्छयदो**) तदनुसार जो निश्चय करके (**जाणदि दव्वाणि सव्व–पज्जाए**) उन सब द्रव्य–गुण–पर्यायादिक, एवं उपलक्षण से प्रसंग को प्राप्त, सप्ततत्त्व–नवपदार्थादिक को जानता है, (**सो सद्दिट्ठी सुद्धो**) वह स्पष्टतः शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, और (**जो संकदि सो हु कुदिट्ठी**) जो उन द्रव्य–गुण–पर्यायादिक व सप्ततत्त्वादिक के अस्तित्व में, उनके सम्यक् स्वरूप में शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

अपने निहित अभिप्राय (vested intent) के वश, कुछ लोग इस गाथा को गा० 321–22 के साथ बलात् जोड़कर इसका मनमाना अर्थ निकालना चाहते हैं, परन्तु प्रस्तुत लेख में किये गए विस्तृत, आगमानुसारी एवं निष्पक्ष विश्लेषण से सुस्पष्ट है कि उनका ऐसा प्रयास आगम–सम्मत मान्यताओं को झूठा साबित

करने में सर्वथा असफल है, और रहेगा। ध्यान देने योग्य है कि प्रकृत गाथा अविरत सम्यग्दृष्टि के पूरे प्रकरण का उपसंहार करने के क्रम में इस स्थल पर प्राप्त है — यह मात्र एक संयोग है कि इसके पहले की कुछ गाथाएं वर्तमान समय में विवादवश बहुचर्चित रही हैं।

24. काललब्धि : सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के सन्दर्भ में

ऊपर, लेख के प्रारम्भ में (उप–अनुच्छेद 2.22 के अन्तर्गत) संस्कारों पर चर्चा कर आए हैं! इन संस्कारों की एक विशेषता यह है कि बुद्धि के द्वारा उत्पन्न एवं पुष्ट किये जाते हुए भी, पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से ये इतने दृढ़ हो जाते हैं कि अबुद्धिगम्य चेतना में भी प्रवेश कर जाते हैं; यही कारण है कि अनादि से शरीर के साथ एकानुभवन करते आ रहे इस जीव को बुद्धिपूर्वक ऐसा विकल्प नहीं उठाना पड़ता कि 'मैं शरीर हूँ'; वह एकानुभवन अबुद्धिपूर्वक चलता ही रहता है। इन अविद्यात्मक संस्कारों का निरसन किया जाना तभी सम्भव है, जब स्व–पर भेदविज्ञान की भावना को साधक इतनी रुचिपूर्वक, इतनी प्रगाढ़ता से भाये कि तज्जनित ज्ञानात्मक संस्कार, अबुद्धिगम्य चेतना में पहले से ही आधिपत्य जमाए बैठे अविद्यात्मक संस्कारों से भी ज़्यादा गहराई तक प्रवेश कर जाएं और उन्हें उखाड़ फेंके (अथवा, करणानुयोग की भाषा में कहें तो, साधक के ऐसे शुद्धात्मभावनारूप पुरुषार्थ की परिणतिस्वरूप दर्शनमोहनीय का उपशमादि घटित हो)। साधना की प्रगाढ़ता की ऐसी चरम परिणति के लिये ही आचार्य पूज्यपाद ने *समाधिशतक* में कहा है : **ज्ञानसंस्कारैः स्वतः तत्त्वे अवतिष्ठते** अर्थात् आत्म–देह के भेदविज्ञानरूप तीव्र संस्कारों के द्वारा मन स्वयं ही आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है (श्लोक 37, उत्तरार्द्ध)।

जिस साधक के ऐसा घटित होता है वह बुद्धि के स्तर पर पहले ही यह निर्णय कर चुका होता है कि समस्त विकल्प — चाहे वे बुद्धिपूर्वक हों या अबुद्धिपूर्वक — आकुलतामय हैं, विभाव हैं, मेरे शुद्धात्मस्वभाव से बहिर्भूत हैं, अतः कर्मबन्ध के कारण हैं, हेय हैं, दुःखरूप हैं; तथा, इनके विपरीत, मेरा निर्विकल्पक ज्ञायकस्वभाव अनाकुलतामय है, आदेय है, ग्रहण करने योग्य है। इसलिये शुद्धात्मभावनारूपी पुरुषार्थ द्वारा वह स्वरूप–सम्मुख होने का प्रयत्न करता है जिससे कि बुद्धिपूर्वक विकल्प विलीन होकर आत्मतत्त्व की प्राप्ति हो। **आत्मतत्त्व के प्रति तीव्ररुचि के संस्कारों के फलस्वरूप**, 'अनिवृत्तिकरण' परिणामों के अनन्तर जब ऐसा घटित होता है, वह क्षण साधक के चुनाव के बाहर है, चूँकि वहाँ विकल्पात्मक बुद्धि अपने निर्विकल्पक स्रोत, आत्मस्वभाव के सम्मुख समर्पित होकर विलीन हो चुकी होती है। आचार्यों ने इस घटना को

'अपौरुषेय' कहा है : **चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमिकादिर्भावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वात्** ... अर्थात् चेतन द्रव्य के औपशमिक आदि भाव, कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा होकर भी, अपौरुषेय होने से ... (*राजवार्तिक,* 5/22/10)।

यदि संस्कारों की भाषा में कहें : साधक नहीं जानता कि साधना द्वारा उत्पन्न किये गए ज्ञानसंस्कारों की तीव्रता कब पूर्वसंचित अविद्यामय संस्कारों को उखाड़ फेंकने में समर्थ होगी। या करणानुयोग की भाषा में कहें, तो : सत्ता में पहले से पड़ा हुआ मिथ्यात्वकर्म, तत्त्वज्ञानाभ्यास के बल से ढीला पड़कर कब नष्ट होगा। इसलिये साधक का कर्तव्य तो तत्त्वाभ्यासरूप पुरुषार्थ में तीव्ररुचिपूर्वक लगे रहना ही है। दर्शनमोहनीय के निरसन का क्षण हम छद्मस्थों के लिये चूँकि अज्ञात/अनिश्चित है, इसलिये जब भी वह घटित होता है उसे 'लब्धि' द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इस प्रकार, **'काललब्धि' का भावार्थ है : जो साधक की अतीव जिज्ञासा के केन्द्र पर प्रतिष्ठित था, साधक के प्राण जिसके लिये तड़पते थे, साधक के समूचे अस्तित्व को जिससे मिलने की प्रतीक्षा थी, ऐसे उस निजात्मतत्त्व से मिलन के क्षण की प्राप्ति।** ज़ाहिर है कि असली महत्त्व तो वहाँ **आत्मतत्त्वलब्धि** का है, जिसे उपचार से "उस क्षण की लब्धि" के रूप में अभिव्यक्ति दी गई है। उप–अनुच्छेद 2.24 के अन्तर्गत चर्चा में दिये गए उद्धरणों (सन्दर्भ 37–39) का ध्यान से पुनरावलोकन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है।

"जीव के औपशमिकादि भाव, कर्मों के उपशमादि की अपेक्षा होकर भी, 'अपौरुषेय' होते हैं," भट्ट अकलंकदेव का यह कथन ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से किया गया है; क्योंकि जब (प्रथम) उपशम घटित होता है, तब — पूर्व में तत्त्वाभ्यासरूपी पुरुषार्थ की प्रगाढ़ता के द्वारा जो उत्पन्न किये गए थे, किन्तु अब जो अबुद्ध्यात्मक चेतनपरिणामों के रूप में संचित हैं, ऐसे वे (पूर्वपुरुषार्थजनित) ज्ञानसंस्कार यद्यपि अपना कार्य कर रहे होते हैं,[117क] तथापि — ***साधक की बुद्धिपूर्वक चेष्टा विलय हो चुकी होती है।***[117ख] पुनश्च, ऋजुसूत्रदृष्टि में कार्यकारणभाव ही नहीं बनता। वर्तमानकालग्राही ऋजुसूत्र, एक पर्यायार्थिक नय है; और कार्यकारणभाव उसके प्रतिपक्षी (अनेक पर्यायों में अन्वयात्मक भाव को विषय करने वाले) द्रव्यार्थिकनय का विषय है, जैसा कि स्वयं अकलंकदेव *राजवार्तिक* में प्रतिपादित करते हैं।[118] ऊपर के उद्धरण में आचार्यश्री द्वारा प्रयुक्त ऋजुसूत्रनय, स्वाभाविक रूप से अपने प्रतिपक्षी द्रव्यार्थिकनय की सापेक्षता रखता है जिसके कि विषयक्षेत्र में कारणकार्यभाव की सुदीर्घ परम्परा

भी आ जाती है; क्योंकि आत्मतत्त्व की खोज के अभियान की सफलता बहुधा अनेक भवों की साधना की अपेक्षा रखती है (जिस तथ्य को रेखांकित करने के लिये ही प्रथमानुयोग में तीर्थंकरों द्वारा मुख्यतः पिछले दस भवों में की गई साधना की परम्परा का सविस्तार वर्णन किया जाता है)।

तत्त्वजिज्ञासुओं को इस विषय में सतर्क रहना ज़रूरी है, क्योंकि 'अपौरुषेय' विशेषण की सन्दर्भ-निरपेक्ष व्याख्या पेश करने के लिये, हमारे नियतिवादी बन्धु (क्षणिकवादी बौद्धों की ही तरह), कार्यकारणभाव-निरपेक्ष ऋजुसूत्रनय के एकान्त का आश्रय लेकर, पुरुषार्थ को तिरस्कृत करने का कोई अवसर नहीं चूकना चाहते। जो भी हो, व्यर्थ के विवाद में न उलझकर, द्रव्यसंग्रह के टीकाकार श्री ब्रह्मदेव के द्रव्यार्थिकनयाश्रित शब्दों का प्रयोग करते हुए, यही निवेदन करना पर्याप्त होगा कि अनेकानेक शास्त्रार्थों में क्षणिकवादी बौद्धों को पराजित करके सम्पूर्ण भारतवर्ष में अनेकान्त-सिद्धान्त की विजय-पताका फहराने वाले महान आचार्य अकलंकदेव द्वारा उल्लिखित उक्त 'अपौरुषेय' घटना उसी साधक के घटित होती है "जो 'निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम' नामक विशेष निर्मलभावनारूप खड्ग से पौरुष करके (मिथ्यात्वरूपी) कर्मशत्रु को हनता है।"[119]

25. निर्जरा तथा मोक्ष के सन्दर्भ में कालनियम की मुख्यता नहीं

रत्नत्रय के धारक, शुद्धोपयोगी मुनिराजों के तपश्चरणरूपी पुरुषार्थ द्वारा कर्मों की निर्जरा कैसे होती है, उसका निरूपण आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में : **यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं बलादुदीर्य उदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा** अर्थात् आम और पनस फल आदि को प्रायोगिक क्रियाविशेष के द्वारा जिस प्रकार अकाल में पका लेते हैं, उसी प्रकार **जिन कर्मों का उदयकाल अभी नहीं आया है उन्हें भी तपविशेषरूपी उपक्रम/उपाय से बलपूर्वक उदीरणा द्वारा उदयावलि में लाकर पका देना अविपाक निर्जरा है।**[120] ऐसे ही आशय का कथन *भगवती आराधना, राजवार्तिक, तत्त्वार्थसार, नयचक्र* आदि अनेकानेक ग्रन्थों में मिलता है। आचार्य शुभचन्द्र भी *ज्ञानार्णव* में इसी आशय के वचन कहते हैं :

अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः।
क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रः।।[121]

अर्थात् नष्ट हुआ है प्रमाद जिनका, और सम्यक् प्रकार से संवरसहित हुआ है अन्तःकरण जिनका, ऐसे **मुनिश्रेष्ठ उत्कृष्ट विशुद्धतासहित तपों से अनुक्रम से गुणश्रेणीनिर्जरा का आश्रय करके, बिना पके कर्मों को भी पका कर स्थिति पूर्ण हुए बिना ही निर्जरा करते हैं।**

उपर्युक्त साक्ष्यों के अवलोकन के बाद भी जिन लोगों की मान्यता में कालनियम की मुख्यता जड़ जमाये हुए है, उन्हें भट्ट अकलंकदेव का यह कथन हृदयंगम करना चाहिये : "भव्यों की कर्मनिर्जरा का कोई काल निश्चित नहीं है और न समस्त कर्मों की निर्जरापूर्वक मोक्ष का ही कोई कालनियम है। ... **यदि काल ही सबका कारण मान लिया जाए तो बाह्य और आभ्यन्तर कारण–सामग्री का ही लोप हो जाएगा**" (*राजवार्तिक,* अ० 1, सू० 3, वार्तिक 9–10)। यही आशय, *प्रवचनसार* की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र प्रकट करते हैं : **आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती, ऐसा है।**[127]

26. उपसंहार

ऊपर की विस्तृत विचारणा के अनुरूप, सन्दर्भविशेष में नियति की प्रयोजनभूतता को हम स्वीकार करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि नियति की वह अवधारणा पुरुषार्थ–सापेक्ष ही है, पुरुषार्थ–निरपेक्ष नहीं; और मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ ही प्रधान है; नियति व कालनियम गौण हैं।

प्रवचनसार की *तत्त्वप्रदीपिका* टीका के परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र ने स्वभाव–अस्वभाव, काल–अकाल, दैव–पुरुषार्थ, ईश्वर(पारतन्त्र्य)–अनीश्वर(स्वातन्त्र्य) नययुगलों का जो निरूपण किया है; वहाँ उनके द्वारा दिये गए उदाहरणों पर ग़ौर करें तो स्पष्ट समझ में आता है कि जहाँ 'स्वभाव', 'काल', 'दैव' आदि एक–एक नय अपने–अपने पक्ष (स्वभाव, काल, दैव/अदृष्ट आदि) के महत्त्व को प्रतिपादित करते दीखते हैं; वहीं अस्वभावनय, अकालनय, पुरुषार्थनय और अनीश्वरनय, ये सब मात्र एक पुरुषार्थ की प्रधानता को ही दर्शाते हैं। सारांशरूप में, लेख के प्रारम्भ में उद्धृत किये गए अमृतचन्द्राचार्य के वचन की पुनरावृत्ति करना उचित एवं युक्त ठहरता है : **पुरुषार्थदृष्टि की मुख्यतापूर्वक आत्मस्वरूप की सिद्धि यत्नसाध्य है।** *अष्टसहस्री* में दैव एवं पुरुषार्थ की चर्चा के अन्तर्गत, श्रीमद् विद्यानन्दि आचार्य कहते हैं : **मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव सम्भवात्** अर्थात् ***मोक्षरूपी***

साध्य भी परम पुण्यातिशयरूप भाग्य/पूर्वकृत तथा ***चारित्रविशेषात्मक पुरुषार्थ से ही सम्भव है।***[123]

कुछ लोग अपने निरूपण में नियति को ही मुख्य करते हैं — पुरुषार्थ को उनके द्वारा 'नियत' कहकर वास्तव में गौण नहीं किया जाता, बल्कि हटा ही दिया जाता है। फलतः उनका निरूपण 'नियति–पुरुषार्थ' की परस्पर सापेक्षता को बनाए रखने वाला अनेकान्त नहीं होता; प्रत्युत 'नियति–नियति' रूप, प्रतिपक्षी नय से निरपेक्ष, एकान्त ही रह जाता है, जो कि स्पष्टतः मिथ्या है — **निरपेक्षा नया मिथ्या**, ऐसा सिद्धान्तवचन है।[124] उन लोगों को अपने नियतिपरक निरूपण की युक्तियुक्तता ठहराने के लिये, पदार्थ के अस्तित्व में उन पर्यायों के निश्चय से अविद्यमान होते हुए भी, भूत–भविष्यत् पर्यायों की 'क्रमबद्धता' की कल्पना करनी पड़ी है; "विवक्षित निमित्त की स्वतः उपस्थिति" के नवीन नियम को 'आविष्कृत' करना पड़ा है; पुरुषार्थ की आर्ष आचार्यों द्वारा दी गई सम्यक् परिभाषा के स्थान पर एक नई परिभाषा गढ़नी पड़ी है; तथा आचार्यों के पुरुषार्थप्रधान उपदेशों को "मात्र कहने की पद्धति" बोलकर, उन्हें निरर्थक ठहराने का दुष्प्रयास भी उनके द्वारा किया जा रहा है। उन लोगों से हमारा नम्र निवेदन है : **ध्यानपूर्वक विचार करें कि आगे भविष्य में इस प्रकार के निरूपण के कितने गंभीर परिणाम होंगे?**

भारतीय संस्कृति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि "दैवीय–ईश्वरीय कृपा" एवं "कर्ता–नियन्ता ईश्वर द्वारा रचित–नियन्त्रित नियति" की समर्थक वैदिक/ब्राह्मण परम्परा रही है; जबकि उससे सर्वथा विलक्षण एवं अत्यन्त पुरातन परम्परा यह है जो आदिगुरु, प्रथम तीर्थंकर, परमतपस्वी, महाश्रमण, अध्यात्मयोगी भगवान् ऋषभदेव के द्वारा प्रारम्भ की गई थी तथा **जिसे 'श्रम' अर्थात् संयम–तपश्चरण–ध्यान–योगरूप पुरुषार्थ की प्रधानता के अनन्य प्रतीक 'श्रमण' विशेषण के द्वारा पुराकाल से जाना गया है।**[125] तीर्थंकरों की इस पुरातन परम्परा के, अब नवीन शैली में किये जा रहे उक्त नियतिपरक निरूपण के परिणामस्वरूप, कहीं ऐसा न हो कि यह दिगम्बर समाज 'नियति' की उक्त अवधारणा के अधीन होकर (और, फलस्वरूप, जीव के पुरुषार्थ को नकार कर, व नतीजतन जीव की ज़िम्मेवारी को भी नकार कर) स्वच्छन्दता का मीठा ज़हर पीने का आदी हो जाए!

लेखक का अभिप्राय यहाँ किसी व्यक्तिविशेष के कथनादिक का खण्डन करने का कदापि नहीं है, बल्कि आगमानुकूल सही रास्ते की ओर इंगित करने मात्र का है। आशा है कि तत्त्वजिज्ञासु, सुधी पाठक इसे इसी निश्छल भावना

से ग्रहण करेंगे तथा इस विषय पर, **भविष्य में होने वाले अवांछनीय परिणामों की चिन्तापूर्वक,** निष्पक्षता एवं गंभीरता से विचार करेंगे।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ :

1. सम्मइसुत्तं (सम्पा० : डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन, नीमच, 1978), पृ० 150.
2. नियमसार, गा० 18; श्री पद्मप्रभमलधारिदेवकृत टीका सहित।
3. राजवार्तिक, अ० 6, सू० 1, वा० 7 (सम्पा०–अनु० : प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, पाँचवां सं०, 1999; मूल संस्कृत, पृ० 504; हिन्दीसार, पृ० 705)
4. देखिये : सन्दर्भ 2.
5. Purushartha = any object of human pursuit; any one of the four objects or aims of existence, namely, (i) kama, the gratification of desire; (ii) artha, acquirement of wealth; (iii) dharma, discharge of duty; and (iv) moksha, final emancipation (Sanskrit-English Dictionary, Monier-Williams; Motilal Banarsidass, revised edn., 2002; p. 637)
6. पुरुषार्थ = मानव जीवन के चार मुख्य अर्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक (संस्कृत–हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; द्वि० सं०, 1969; पृ० 624)
7. (a) Purushartha = human effort or exertion (Ref. 5, p. 637)
   (b) पुरुषार्थ = मानवप्रयत्न या चेष्टा, पुरुषकार (संदर्भ 6, पृ० 624)
8. पौरुषम् = चेष्टा, प्रयत्न (संदर्भ 6, पृ० 637)
9. (a) Purushakara = human effort (opposite to daiva, fate) [Ref. 5, p. 637]
   (b) देखिये संदर्भ 7(b)
10. आप्त–मीमांसा : स्वामी समन्तभद्र (आ० वसुनन्दिकृत वृत्ति एवं अकलंकदेवविरचित अष्टशती सहित; भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, काशी; 1914), पृ० 40.
11. अष्टसहस्री (गांधी नाथारंग जैनग्रन्थमाला, बम्बई; 1915), पृ० 256.
12. सन्दर्भ 10, पृ० 40.
13. तत्त्वप्रदीपिका टीका, परिशिष्ट के अन्तर्गत 47 नयों द्वारा आत्मद्रव्य का निरूपण; क्रम सं० 32 पर पुरुषकारनयविषयक कथन।
14. "शंका : मुक्त जीव के कोई प्रयत्न नहीं होता, क्योंकि मुक्त जीव कृतकृत्य हैं? समाधान : वीर्यान्तरायकर्म के क्षय से उत्पन्न, वीर्यलब्धिरूप प्रयत्न मुक्त जीव के होता है। चूँकि *मुक्त जीव कृतकृत्य रहते हैं, अतः वे प्रयत्न का कभी उपयोग नहीं करते।*" (स्याद्वादमंजरी; रायचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, 1935; पृ० 89–90) [ध्यान देने योग्य है कि यहाँ वैशेषिकमत के शंकाकार को उत्तर देने के लिये श्वेताम्बर रचनाकार मल्लिषेणसूरि ने *वीर्यलब्धिरूप 'शक्ति' या 'सामर्थ्य' में 'प्रयत्न' का उपचार किया है।* जिस सन्दर्भ में यह कथन किया गया है उसे ठीक से समझने के लिये वैशेषिकों का पूर्वपक्ष समझना भी निहायत जरूरी है; देखें, पृ० 65 से 92 तक, पूरा प्रकरण।]

15. सिद्धिविनिश्चय, 1–6, स्वोपज्ञवृत्ति (सम्पा० : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1959), पृ० 34.
16. वही, 1–8, आचार्य अनन्तवीर्यकृत टीका; पृ० 36.
17. प्रमेयकमलमार्तण्ड, 3–3 (निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई, 1941), पृ० 334.
18. वही, 4–6; पृ० 490.
19. (क) ऐसा ही आशय आचार्य वीरसेन ने व्यक्त किया है : "अवाय ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में *कालान्तर में अविस्मरण के कारणभूत संस्कार* को उत्पन्न करने वाला जो निर्णयरूप ज्ञान होता है उसे धारणा ज्ञान कहते हैं। (जयधवला–समन्वित कसायपाहुड, भाग 1, द्वि० सं०, पृ० 307)
(ख) यह भी देखिये : "इदमेव हि संस्कारस्य लक्षणं यत्कालान्तरेऽप्यविस्मरणमिति।" (लघीयस्त्रय, कारिका 5, अभयदेवसूरिकृत वृत्ति; 'लघीयस्त्रयादिसंग्रह', माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, 1915, पृ० 15)
20. समाधिशतक (प्रभाचन्द्राचार्यकृत टीका सहित); श्लोक 7, 8, 10, 12, और श्लोक 37 का पूर्वार्द्ध।
21. प्रवचनसार, गा० 184 (कुव्वं सभावमादा ...), जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति।
[यह भी देखिये : "प्रकृति, शील और स्वभाव, ये तीनों शब्द एकार्थक हैं। ... रागादिक रूप परिणमन आत्मा का स्वभाव है।" (गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 2, जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका)]
22. प्रवचनसार, गा० 116, तत्त्वप्रदीपिका टीका। (आचार्य कुन्दकुन्द की मूल गाथा का भावार्थ भी द्रष्टव्य है।)
23. धवला, 1, 9–1, 23, पु० 6, पृ० 41.
24. "विणएण सुदमधीदं किह वि पमादेण होदि विस्सरिदं। तमुवड्ढादि परभवे ...।" (धवला, 4, 1, 18; पु० 9, पृ० 82 पर उद्धृत)
25. लब्धिसार, गा० 6, संस्कृत वृत्ति (सम्पा० : सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्दजी शास्त्री, श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, अगास; तृतीयावृत्ति, 1992), पृ० 5.
26. द्रव्यसंग्रह, गाथा 38, ब्रह्मदेव–विरचित संस्कृत टीका।
27. "ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारः।" (सिद्धिविनिश्चय, 8–26, टीका में उद्धृत; सन्दर्भ 15, पृ० 566)
28. "साधनं द्विविधं अभ्यन्तरं बाह्यं च।" (सर्वार्थसिद्धि, 1/7)
29. देखिये : (क) सन्दर्भ 10, पृ० 40; (ख) संदर्भ 11, पृ० 256.
30. आप्तमीमांसा, तत्त्वदीपिका व्याख्या; प्रो० उदयचन्द्र जैन (श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, 1975), पृ० 287.
31. देखिये : पं० टोडरमलजीकृत मोक्षमार्गप्रकाशक (सम्पादन : पं० परमानन्द शास्त्री, सस्ती ग्रन्थमाला, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, 1950), दूसरा अधिकार, पृ० 56–57; तीसरा अधिकार, पृ० 80.
32. "तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः। सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता।।" अर्थ : जैसा भाग्य होता है वैसी ही बुद्धि हो जाती है, प्रयत्न भी वैसा ही होता है; और उसी के अनुसार सहायक भी मिल जाते हैं।

[यद्यपि अष्टशती में उक्त श्लोक से पहले, स्पष्ट–रूप–से 'तदुक्तं' लिखा मिलता है (देखिये सन्दर्भ 10, पृ० 41); तो भी, कुछ लोग आज भी इसे अष्टसहस्रीकारकृत या अकलंकदेवकृत बतलाते हैं, और इसका सन्दर्भ–निरपेक्ष, मनमाना अर्थ करने में लगे हैं। (उदाहरणार्थ देखिये : क्रमबद्धपर्याय–निर्देशिका, अभयकुमार जैन, पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, तृ० सं०, 2006, पृ० 125)]

33. देखिये सन्दर्भ 11, पृ० 257. 34. संदर्भ 5, पृ० 749. 35. संदर्भ 6, पृ० 733.
36. स्वयम्भूस्तोत्र, तत्त्वप्रदीपिका व्याख्या, प्रो० उदयचन्द्र जैन (श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, 1993), पृ० 65–68.
37. धवलाटीका–समन्वित षट्खण्डागम, 1, 9–8, 3; पु० 6, पृ० 203–205।
38. पंचास्तिकाय, गाथा 151 (कम्मस्साभावेण ...) की तात्पर्यवृत्ति।
39. (क) "बुद्धिमान् भव्य जीव, आगमभाषा के अनुसार 'क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण' नामक पंचलब्धियों से, और अध्यात्मभाषा के अनुसार 'निजशुद्धात्माभिमुख–परिणाम' नामक विशेष निर्मलभावनारूप खड्ग से पौरुष करके (मिथ्यात्वरूपी) कर्मशत्रु को हनता है।" (द्रव्यसंग्रह, गाथा 37, श्री ब्रह्मदेवकृत वृत्ति)

(ख) "इन्द्रभूति गौतम जब भगवान् महावीर के समवसरण में गए, तब मानस्तम्भ के देखने मात्र से ही, आगमभाषा के अनुसार दर्शनमोहनीय के उपशम/क्षय/क्षयोपशम से, और अध्यात्मभाषा के अनुसार निज शुद्धात्मा के सम्मुख परिणाम से एवं कालादि लब्धि–विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया।" (वही, गाथा 41, संस्कृतवृत्ति)
40. संदर्भ 6, पृ० 528. 41. संदर्भ 5, पृ० 552.
42. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृ० 613–20; देखिये 'नियति' शीर्षक के नीचे दिये गए विभिन्न उपशीर्षक, और उनके अन्तर्गत संकलित शास्त्र–उद्धरण।
43. आधुनिक नियतिवाद के प्रचारक 'वस्तुविज्ञानसार' नामक पुस्तक में कहते हैं : "यदि ऐसा माना जाए कि जब मिट्टी से घड़ा नहीं बना था, तब उस समय भी मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता थी; परन्तु निमित्त नहीं मिला, इसलिये घड़ा नहीं बना, तो यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि जब मिट्टी में घड़ारूप अवस्था नहीं हुई, तब उसमें पिण्डरूप अवस्था है, और उस समय वह अवस्था होने की ही उसकी योग्यता है। जिस समय मिट्टी की पर्याय में पिण्डरूप अवस्था की योग्यता होती है, उसी समय उसमें घड़ारूप अवस्था की योग्यता नहीं होती क्योंकि *एक ही पर्याय में एक साथ दो प्रकार की योग्यता कदापि नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्व का है, यह प्रत्येक स्थान पर लागू करना चाहिये।"* (वस्तुविज्ञानसार; हिन्दी अनुवाद : पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ; श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, काठियावाड़, 1948; पृ० 40)

[यहाँ यह भूल की जा रही है कि जिस पर्याय–योग्यता का यहाँ सन्दर्भ है, वह पर्याय–योग्यता किसी "अमुक पर्याय में" कदापि नहीं कही जाती, प्रत्युत विवक्षित स्थूल/व्यंजनपर्याययुक्त द्रव्य में कही जाती है। उक्त वक्ता द्वारा दिये गए उदाहरण में मृत्पिण्ड तथा घड़ा, दोनों ही मिट्टीरूप द्रव्य की स्थूल या व्यंजनपर्यायें हैं। जैसा कि लेख में आगे चलकर चर्चा करेंगे, मृत्पिण्ड अवस्था में जो मृद्द्रव्य (मिट्टीरूप द्रव्य) है,

उसमें नाना योग्यताएं हैं। अतः "एक ही पर्याय में एक साथ दो प्रकार की योग्यता कदापि नहीं हो सकती," इस वाक्य में मूलभूत गलती यह है कि प्रश्न "अमुक पर्याय में पर्याय–योग्यता" का बिल्कुल नहीं है, बल्कि "अमुक पर्याययुक्त द्रव्य में पर्याय–योग्यता" का है। और, जिनागम के अनुसार किसी भी पर्याययुक्त द्रव्य में असंदिग्ध रूप से अनेकानेक पर्याय–योग्यताएं हुआ करती हैं।]

44. "जब आत्मा की जो अवस्था होती है, तब उस अवस्था के लिये अनुकूल *निमित्तरूप परवस्तु स्वयं उपस्थित होती ही है।* (वही, पृ० 6, पैरा 2)
45. "जो क्रमबद्ध पर्याय उस समय प्रगट होनी थी, *वही ... पर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है।"* (वही, पृ० 30, बिन्दु 3 के अन्तर्गत)
46. सन्दर्भ 31, पृ० 455–56; खड़ी–बोली रूपान्तर।
47. द्रव्ययोग्यता और पर्याययोग्यता की विस्तृत चर्चा के लिये देखिये : जैनदर्शन, डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य (श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, द्वि० सं०, 1966), अध्याय 4.
48. असंख्यातासंख्यात लोकप्रमाण वैभाविक चेतन परिणामों में से, असंख्यातों लोकप्रमाण परिणाम तो ऐसे होंगे जो देव, नारक, या तिर्यंच व्यंजनपर्यायों में तो होने सम्भव हों, किन्तु मनुष्यपर्याय में नहीं। मनुष्यजीवों में भी, असंख्यातों लोकप्रमाण परिणाम ऐसे होंगे जो भोगभूमि, कुभोगभूमि, विद्याधरक्षेत्रों, म्लेच्छखण्डों के निवासियों में तो होने सम्भव हों, किन्तु आर्यखण्ड के निवासियों में नहीं। पुनश्च, वर्तमान पृथ्वी/आर्यखण्ड के निवासियों में; एक ओर, न तो ऐसे रौद्र परिणामों की योग्यता है जो सातवें–छठें आदि नरकों के योग्य आयु का बन्ध कर सकें; और, दूसरी ओर, न ही ऐसे परिणाम होने सम्भव हैं जो सातवें से ऊपर के गुणस्थानों की भूमिका में ही होने शक्य हों।
49. "कालादिलब्धिसंयुक्ताः कालद्रव्यक्षेत्रभवभावादिसामग्रीप्राप्ताः।"
(स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 219, भट्टारक शुभचन्द्रकृत संस्कृत टीका)
50. प्रमाण–परीक्षा, अनुच्छेद 84 (सम्पा० : डा० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, 1977, मूल संस्कृतपाठ, पृ० 36)। ये उद्धरण भी द्रष्टव्य हैं :
(क) "आत्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमभेदः स्वार्थप्रमितौ शक्तिर्योग्यतेति च स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिधीयते।" (वही, पृ० 3–4)
(ख) "स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया ..." अर्थात् अपने ज्ञान के रोकने वाले आवरणों के क्षयोपशमरूप योग्यता के द्वारा ...। (देखिये : माणिक्यनन्द्याचार्यकृत परीक्षामुख, अनेकान्त ज्ञानमन्दिर शोध संस्थान, बीना, द्वि० सं०, 2005, पृ० 32–34; क्षुल्लक विवेकानन्दसागर की व्याख्या एवं तदन्तर्गत प्रश्नोत्तर पठनीय हैं।)
51. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (गांधी नाथारंग जैनग्रन्थमाला, बम्बई, 1918), पृ० 196.
52. "ज्ञान की अमुक पर्याय को प्रकट न होने देना विवक्षित ज्ञानावरणकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय का काम है; किन्तु जिस जीव के विवक्षित ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है उसके उस ज्ञानावरण के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय न होने से विवक्षित ज्ञान के प्रकाश में आने की योग्यता होती है, और इसी योग्यता का नाम लब्धि है। *ऐसी योग्यता एक साथ सभी क्षायोपशमिक ज्ञानों की हो सकती है; किन्तु उपयोग में एक काल में एक ही ज्ञान आता है।"* (देखिये : सर्वार्थसिद्धि, 2/18, टीकार्थ के अनन्तर दिया गया विशेषार्थ;

सम्पा० : सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्दजी शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ, चतुर्थ सं०, 1989; पृ० 126)

53. "लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ? ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः।" अर्थ : 'लब्धि' शब्द का अर्थ है, प्राप्त होना। लब्धि किसे कहते हैं? ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमविशेष को लब्धि कहते हैं। (सर्वार्थसिद्धि, 2/18)
54. राजवार्तिक, अ० 1, सू० 29, वार्तिक 9; श्री गुणभद्राचार्य का यह कथन भी देखिये : "जिस पृथिवी के ऊपर सभी पदार्थ रहते हैं वह पृथिवी भी दूसरों के द्वारा, अर्थात् घनोदधि, घन और तनु वातवलयों के द्वारा धारण की गई है। वह पृथिवी और वे तीनों ही वातवलय भी आकाश के मध्य में प्रविष्ट हैं। और, वह अनन्तानन्त आकाश भी केवलियों के ज्ञान के एक कोने में निलीन है, समाया हुआ है।" (आत्मानुशासन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, द्वि० सं०, 1973, पृ० 202-03)
55. त्रिलोकसार, गाथा 13-14; श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवकृत टीका सहित (सम्पा० : पं० रतनचन्द जैन मुख्तार एवं डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, श्री शान्तिवीर दि० जैन संस्थान, श्रीमहावीरजी, 1975), पृ० 14-15.
56. वही, गा० 48-51; पृ० 46-48.
57. परमात्मप्रकाश, दोहा 47.
58. देखिये : सन्दर्भ 55, पृ० 48.
59. वस्तुविज्ञानसार, सन्दर्भ 43, पृ० 71.
60. (क) धवला, 4, 1, 3; पु० 9, पृ० 42 व 48.
    (ख) सन्दर्भ 55, गा० 83-84; पृ० 74-81.
61. सन्दर्भ 60(क), पृ० 50-51.
62. सर्वार्थसिद्धि, अ० 10, सू० 8.
63. पंचास्तिकाय, समयव्याख्या सहित, श्री शान्तिसागर जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, श्रीमहावीरजी, 1964), पृ० 247.
64. देखिये : राजवार्तिक, 10/8.
65. देखिये : श्लोकवार्तिक, 10/8.
66. "ततोऽप्यूदर्ध्वगतिस्तेषां कस्मान्नास्तीति चेन्मति।
    धर्मास्तिकायस्याभावात्स हि हेतुर्गतेः परः ।।44।।" (तत्त्वार्थसार, अष्टमाधिकार)
67. (क) तिलोयपण्णत्ती, अट्ठमो महाहियारो, गाथा 708-10 (अनु० : आर्यिका विशुद्धमति; सम्पा० : डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी; श्री 1008 चन्द्रप्रभु दि० जैन अतिशयक्षेत्र, देहरा-तिजारा, द्वि० सं०, 1997), पृ० 613.
    (ख) त्रिलोकसार, गाथा 527; सन्दर्भ 55, पृ० 451.
68. तिलोयपण्णत्ती, 8/692-94; सन्दर्भ 67(क), पृ० 610.
69. देखिये : आदिपुराण, पर्व 11, श्लोक 154-55 (सम्पा०-अनु० : डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तृ० सं०, 1988), पृ० 240.
70. त्रिलोकसार, गाथा 554; सन्दर्भ 55, पृ० 473.
71. दैवमेव परं मन्ये धिक्पौरुषमनर्थकम्।
    (गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 891, पूर्वार्द्ध, संस्कृत छाया)
72. (क) अज्ञानी खलु अनीशः आत्मा तस्य सुखं च दुःखं च।
        स्वर्गं नरकं गमनं सर्वं ईश्वरकृतं भवति।।
    (गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा 880, संस्कृत छाया)
    (ख) अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
        ईश्वरप्रेरिता गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।। (महाभारत, वनपर्व, 30/2)

73. देखिये : सन्दर्भ 47, पृ० 82–84.
74. (क) आहारादिविषयाभिलाषः संज्ञेति। अर्थ : आहार आदि विषयों की अभिलाषा/इच्छा को 'संज्ञा' कहा जाता है। (सर्वार्थसिद्धि, 2/24)
(ख) सण्णा चउव्विहा आहार–भय–मेहुण–परिग्गहसण्णा चेदि। अर्थ : संज्ञा चार प्रकार की है, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। (धवला, 1, 1; पु० 2; द्वि० सं०, 1992, पृ० 415)
75. देखिये : (क) तिलोयपण्णत्ती, आठवां महाधिकार, सन्दर्भ 67(क)
(ख) आदिपुराण, पर्व 11, सन्दर्भ 69.
76. तिलोयपण्णत्ती, आठवां महाधिकार, गाथा 664; सन्दर्भ 67(क), पृ० 603.
77. वही, गाथा 555, पृ० 582.
78. देखिये : सर्वार्थसिद्धि, 3/37; सन्दर्भ 52, पृ० 173.
79. वस्तुविज्ञानसार, सन्दर्भ 43, पृ० 10 व 11.
80. (क) जयधवला; सन्दर्भ 19(क), पृ० 19.
(ख) "णट्ठाणुप्पण्ण अत्थाणं कधं तदो परिच्छेदो? ण, केवलत्तादो बज्झत्थावेक्खाए विणा तदुप्पत्तीए विरोहाभावा।" शंका : जो पदार्थ नष्ट हो चुके हैं, और जो पदार्थ अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनका केवलज्ञान से कैसे ज्ञान हो सकता है? समाधान : नहीं, क्योंकि केवलज्ञान के सहाय–निरपेक्ष होने से, बाह्य पदार्थों की अपेक्षा के बिना, उनके (विनष्ट और अनुत्पन्न अर्थों के) ज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है। (धवला, 1, 9–1, 14; पु० 6, पृ० 29)
81. देखिये : जयधवला, सन्दर्भ 19(क), पृ० 20.
82. प्रवचनसार, गाथा 38, ता० वृ० (सम्पा० : पं० अजितकुमार शास्त्री एवं पं० रतनचन्द जी जैन मुख्तार, श्री शान्तिवीर दि० जैन संस्थान, श्रीमहावीरजी, 1969), पृ० 92.
83. (क) "कार्यस्यात्मलाभात् प्रागभवनं प्रागभावः" अर्थात् कार्य के पैदा होने से पूर्व जो उसका अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। (अष्टसहस्री; संदर्भ 11, पृ० 97)
(ख) "प्राक् पूर्वस्मिन्नभावः असत्त्वं प्रागभावः। मर्षत्पिण्डे घटस्यासत्त्वमित्यर्थः। ... प्रध्वसस्य च विनाशस्य च घटस्य कपालनाशादय इत्यर्थः।"
(आप्तमीमांसा, कारिका 10; आचार्य वसुनंदिकृत वृत्ति; संदर्भ 10, पृ० 8)
(ग) "कार्यस्यैव पूर्वेण कालेन विशिष्टोर्थः प्रागभावः, परेण विशिष्टः प्रध्वंसाभावः" (अष्टसहस्री; संदर्भ 11, पृ० 99)
(घ) कार्य के स्वरूपलाभ करने के पश्चात् जो अभाव होता है, अथवा जो कार्य के विघटनरूप है वह प्रध्वंसाभाव है। [जयधवला, सन्दर्भ 19(क), पृ० 227]
84. देखिये : क्रमबद्धपर्याय, डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल (श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1980), पृ० 38–40) [प्रवचनसार, गाथा 99 में द्रव्य के उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक स्वभाव का निरूपण किया गया है। इस गाथा की तत्त्वप्रदीपिका टीका में, विभिन्न उत्पाद–व्ययात्मक परिणामों में जो अनुस्यूत है वह प्रवाहात्मक ध्रौव्य है; यह समझाने के लिये, आचार्य अमृतचन्द्र ने मोतियों के हार का दृष्टान्त दिया है। यद्यपि हार में सारे मोती एक–साथ होते हैं, परन्तु द्रव्य में पूर्वोत्तर पर्यायें एक–साथ नहीं होती, ऐसा जिनागम में असंदिग्ध रूप से प्रतिपादित किया गया है। परन्तु, आचार्यश्री के अभिप्राय के विपरीत,

उपर्युक्त लेखक ने दृष्टान्त को खींचकर, उसे जानबूझकर दृष्टान्ताभास बना दिया है, और यह सिद्ध करने की असफल कोशिश की है कि द्रव्य में पर्यायें क्रमबद्ध रूप से पड़ी होती हैं।

ज्ञातव्य है कि "पदार्थ में अनेकानेक कार्य (हम जैनों के लिये, पर्यायें) एक–साथ पड़े हैं और वे केवल प्रकट व अप्रकट होते रहते हैं, उसी तरह, जैसे कि कछुआ अपनी गर्दन अपने पृष्ठकवच से बाहर निकालता है और भीतर खींच लेता है;" यह ऐकान्तिक सिद्धान्त जैनों का नहीं, प्रत्युत सांख्यमतियों का है। उनके इस सिद्धान्त का नाम 'सत्कार्यवाद' है, जिसके अनुसार न पदार्थों की उत्पत्ति होती है और न विनाश; किन्तु उनका 'आविर्भाव'/प्रकटन और 'तिरोभाव'/अप्रकटन होता रहता है। (देखिये : **The Samkhya Karika of Isvara Krishna, Suryanarayana Sastri, Madras Univ., 1933)]**

85. प्रवचनसार, गाथा 37, अमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका।
86. वही, जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति।
87. चित्रपट अथवा भित्तिचित्र आदि के माध्यम से प्रदर्शित घटनाओं में कुछ–एक, संख्यात परिवर्ती (variables) हो सकते हैं, जबकि दिव्य, प्रत्यक्ष ज्ञान में द्रव्य–क्षेत्र–काल–भव–भावरूप आयामों समेत, अनन्तानन्त ज्ञेयों के रूप से अनन्तानन्त ही परिवर्ती (variables) होते हैं। इसी अभिप्राय से केवलज्ञान को अनन्त–आयामी कहा गया है।
88. देखिये : जयधवला, सन्दर्भ 19(क), पृ० 20.
89. देखिये : वही, पृ० 20.
90. ज्ञातव्य है कि प्रध्वंस–अभाव और भूतपर्यायशक्ति में कोई अन्तर नहीं है; जब हम किसी पदार्थ की किसी विवक्षित पर्याय को दृष्टि में लेते हैं तो उस पर्याय की 'व्यक्ति' का अभाव (यानी पर्याय का 'व्यय') ही उसका प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। परन्तु *यह प्रध्वंसाभाव/व्यय किसी भी प्रकार से उस पर्याय का अत्यन्ताभाव नहीं है; वह व्ययगत पर्याय मात्र भूतशक्ति–रूप–से उस पदार्थ में अब भी मौजूद है।*

    इसी प्रकार, प्राग्–अभाव और भविष्यत्पर्यायशक्ति में भी कोई अन्तर नहीं है; जब हम किसी पदार्थ की किसी सम्भावित पर्याय को दृष्टि में लेते हैं तो उस पर्याय की 'व्यक्ति' का अभाव (यानी पर्याय का वर्तमान में अनुत्पाद) ही उसका प्रागभाव कहा जाता है। परन्तु *यह प्रागभाव/अनुत्पाद किसी भी प्रकार से उसका अत्यन्ताभाव नहीं है; वह अनुत्पन्न पर्याय मात्र भविष्यत्शक्ति–रूप–से उस पदार्थ में अब भी मौजूद है।* [देखिये : जयधवला, सन्दर्भ 19(क), पृ० 19–20; तथा धवला, 1, 9–1, 14; पु० 6, पृ० 29]
91. "नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
    अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा।।"

    तीनों कालों को विषय करने वाले जो नैगम–संग्रहादिनय हैं (और उनकी शाखा–प्रशाखारूप जो भेद–प्रभेदात्मक उपनय हैं) — उन नयों/उपनयों के विषयभूत जो (सम्यक्) एकान्त हैं (कैसे 'एकान्त' हैं? जो कि विपक्ष की उपेक्षा को करके होते हैं, न कि विपक्ष का सर्वथा त्याग करके।); ऐसे उन त्रिकालसम्बन्धी एकान्तों/पर्यायों का कथंचित् अपृथक् सम्बन्धरूप समुच्चय/समुदाय ही द्रव्य है; वही वस्तु है। [आप्तमीमांसा, कारिका 107; अष्टसहस्री टीका सहित (अनु० : आर्यिका ज्ञानमती, दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर; तृ० भाग, 1990; पृ० 576–77)]
92. देखिये : जयधवला, सन्दर्भ 19(क), पृ० 19–20.

93. (क) मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप पर्यायें 'विभावपर्यायें' हैं। वे विभावपर्यायें अथवा अशुद्धपर्यायें 'स्व-पर-सापेक्ष' होती हैं; अर्थात् 'स्व' यानी उपादान, और 'पर' यानी निमित्त दोनों की अपेक्षा रखती हैं। (नियमसार, गाथा 14-15; पद्मप्रभमलधारिदेवकृत टीका सहित)

(ख) "बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः" अर्थात् कार्योत्पत्ति के लिये बाह्य और आभ्यन्तर, निमित्त और उपादान, दोनों कारणों की समग्रता ही द्रव्यगत निज स्वभाव है। (स्वयम्भूस्तोत्र, 12-5; देखिये : सन्दर्भ 36, पृ० 101-02)

94. "जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य, *समुचित बहिरंग साधनों के सान्निध्य के सद्भाव में*, ... अन्तरंग साधनभूत स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरण के सामर्थ्यरूप स्वभाव से सहित हुआ, उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उत्पादरूप देखा जाता है।" (प्रवचनसार, गाथा 95, अमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वप्रदीपिका टीका)

95. देखिये : जैनदर्शन, सन्दर्भ 47, पृ० 92-93.

96. "सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभाव-व्यवस्थिताः।

न शक्यन्तेऽन्यथाकर्तुं ते परेण कदाचन।।9/46।।"

"सब द्रव्य/पदार्थ स्वभाव से अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं, वे पर के द्वारा कभी अन्यथारूप नहीं किये जा सकते।" भाष्य : यहाँ एक बहुत बडे अटल सिद्धान्त की घोषणा की गई है : यह कि स्वभाव से ही अपने-अपने स्वरूप में व्यवस्थित रहने वाले, समस्त पदार्थों को कोई दूसरा द्रव्य/पदार्थ अन्यथा करने में, यानी स्वभाव से च्युत करने में अथवा पर-रूप परिणत करने में, कदापि समर्थ नहीं होता। (आचार्य अमितगतिकृत योगसार-प्राभृत, चूलिकाधिकार, सम्पा०-भाष्य : श्री जुगलकिशोरजी मुख़्तार, भारतीय ज्ञानपीठ, द्वि० सं०, 1999, पृ० 211)

97. "णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं" (प्रवचनसार, गाथा 23)

98. वस्तुविज्ञानसार; सन्दर्भ 43, पृ० 12.

99. स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 42.

100. "परमागमस्य जीवं ... अनेकान्तम्" (पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक 2)

101. (क) अष्टसहस्री, कारिका 87; सन्दर्भ 11, पृ० 252.

(ख) अष्टसहस्री, तृतीय भाग, कारिका 87; सन्दर्भ 90, पृ० 423-24.

(ग) यह भी देखिये : आप्तमीमांसा, सन्दर्भ 30, पृ० 279.

102. *धवला* टीका, 5, 5, 50, पु० 13, पृ० 286.

103. देखिये : पंचाध्यायी, अ० 1, श्लोक 743.

104. देखिये : प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका टीका, परिशिष्ट; क्रम सं० 14 पर 'द्रव्यनय'-विषयक कथन।

105. क्रमबद्धपर्याय; सन्दर्भ 84, पृ० 43.

106. (क) "उपादानं उत्तरस्य कार्यस्य सजातीयं कारणम्" अर्थात् उत्तर पर्याय/कार्य का सजातीय कारण, उपादान कहलाता है। (न्यायविनिश्चय विवरण, 1/132)

(ख) पूर्वपरिणामयुक्तं कारणभावेन वर्तते द्रव्यम्।

उत्तरपरिणामयुक्तं तदेव कार्यम्भवेत् नियमात्।।222।।

कारणकार्यविशेषाः त्रिष्वपि कालेषु भवन्ति वस्तूनाम्।

एकैकस्मिन् च समये पूर्वोत्तरभावमासाद्य।।223।। (स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, संस्कृत छाया) अर्थ : पूर्व परिणाम सहित द्रव्य कारणरूप है और उत्तर परिणाम सहित द्रव्य नियम से कार्यरूप है। वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणामों को लेकर तीनों ही कालों में प्रत्येक समय में कारण–कार्यभाव होता है।

107. (क) "द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च।" (राजवार्तिक, 2/8/1)
(ख) "प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्।" (सर्वार्थसिद्धि, 1/21)
(ग) "निमेदति सह करोतीति निमित्तम्" अर्थात् दो पदार्थों की परिणतियां समकालवर्तिनी होते हुए, जिसकी परिणति उपादानभूत अन्य पदार्थ की परिणतिक्रिया में सहायक होती है वह पदार्थ 'निमित्त' कहलाता है। (समयसार, स्वोपज्ञतत्त्वप्रबोधिनी टीका, पं० मोतीचन्द्र कोठारी, अनेकान्त ज्ञानमन्दिर शोध संस्थान; खण्ड–1, द्वि० सं०, 2004; पृ० 36–37)

108. (क) "एक द्रव्य की दो अनन्तरकालवर्ती पर्यायों में एकद्रव्यप्रत्यासत्तिरूप उपादान–उपादेय सम्बन्ध होता है। ... प्रश्न : सहकारी कारणों के साथ पूर्वोक्त कार्य–कारणभाव कैसे ठहरेगा, क्योंकि वहाँ एकद्रव्यप्रत्यासत्ति नाम के सम्बन्ध का तो अभाव है? उत्तर : काल–प्रत्यासत्ति नामक सम्बन्ध से वहाँ कार्य–कारणभाव सिद्ध हो जाता है। जिससे अव्यवहित उत्तरकाल में नियम से जो अवश्य उत्पन्न हो जाता है वह उसका सहकारी कारण है और शेष दूसरा कार्य है।" (श्लोकवार्तिक, अ० 1, सू० 7, वार्तिक 13; सन्दर्भ 51, पृ० 151)
(ख) देखिये : सन्दर्भ 94 का उद्धरण।

109. देखिये, सन्दर्भ 22.

110. गाथा 320 का चौथा चरण है : "एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी" अर्थात् "सम्यग्दृष्टि इस प्रकार चिंतवन करता है।" न्यायशास्त्र के सन्दर्भानुसारी प्रयोग के अनुसार, प्रकृत में मध्यदीपकन्याय लागू पड़ता है जिसका तात्पर्य है कि "एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी" पूरे गाथाचतुष्क, यानी 319 से 322 तक चारों गाथाओं पर लागू (applicable) होगा। ज़ाहिर है कि गाथा 321–22 में स्वामी कुमार अपने पूर्ववर्ती श्री कुन्दकुन्ददेव, स्वामीसमन्तभद्र आदि महान आचार्यों से भिन्न, किसी नूतन या अपूर्व सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत परिणामों को सँभालने के सन्दर्भविशेष के अन्तर्गत, ज्ञानापेक्ष नय की विषयभूत कथंचित् नियति को प्रयोजनवश मुख्य करके उसका अवलम्बन लेते हुए सम्यग्दृष्टि द्वारा की जाने वाली विचारणा/भावना/अनुप्रेक्षा का निरूपण कर रहे हैं।

आधुनिक नियतिवाद के प्रचारक भी उपर्युक्त आशय से सहमत दीखते हैं, जैसा कि 'वस्तुविज्ञानसार' नामक पुस्तक (देखिये सन्दर्भ 43, पृ० 2; पंक्ति 2 एवं पंक्ति 18–19) में स्वीकार किया गया है कि "इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है।" विडम्बना यह है कि अपनी इसी पुस्तक में आगे चलकर वे खुद एवं उनके आज्ञानुसारी (न कि परीक्षाप्रधानी) समर्थक भी इस एकनयावलम्बी विचारणा/भावना/अनुप्रेक्षा को प्रमाणभूत सिद्धान्त समझने की गंभीर भूल कर बैठते हैं।

111. आचार्य अमितगतिकृत भावनाद्वात्रिंशतिका, पद्यानुवाद, छन्द 31.

112. स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 388–89.

113. आचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण, पर्व 41, श्लोक 102–05।

114. जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। (प्रवचनसार, गाथा 80)

115. अनित्यादिक एकांगी भावनाओं को भाना भी तभी कार्यकारी होता है जब साधक को अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप का सम्यक्रीत्या ज्ञान हो; क्योंकि अनित्य भावना का प्रयोजन असारभूत संयोगी पदार्थों से जीव को हटाकर उसे सदा-नित्य अपने आत्मस्वरूप में लगाना है; अशरणानुप्रेक्षा का उद्देश्य भी जीव को मिथ्याशरणरूप बाह्य आलम्बनों से विमुख करके पहले पंचपरमेष्ठीरूप व्यवहार-शरण में, और अन्ततः, आत्मस्वभावरूप निश्चय-शरण में लाना है; इत्यादि। ज्ञातव्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने 'बारस अणुबेक्खा' में अनित्य, अशरण, अन्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओं के निरूपण के अन्तर्गत, नित्य, शरण, एकत्व आदि के प्रतिपादन हेतु भी कम-से-कम एक दोहा अवश्य रचा है।

इसी प्रकार, उपचरित नियति का आश्रय लेकर, निचली भूमिका वाले सम्यग्दृष्टि *साधक का उद्देश्य* पहले तो संयोगी स्थितियों में जुड़ रहे अपने परिणामों से स्वयं को उबारना है। तदनन्तर, नियतस्वरूप अपने ज्ञायकस्वभाव के साथ पुनः पुनः एकानुभवन के द्वारा, समुचित आत्मबल बढ़ा लेने पर प्रतिज्ञापूर्वक महाव्रतादि को धारण करके, तपश्चरण-ध्यानादिरूप जो अनियतस्वरूप पुरुषार्थ है उसकी परम प्रकर्षता द्वारा, कर्मों की उनके उदयकाल से पहले बलात् उदीरणा करते हुए अविपाकनिर्जरा करके, मुक्ति को प्राप्त होकर, परमनियतस्वरूप अपनी शुद्धस्वभावपर्याय में सुस्थित होना है। अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व के निरन्तर अभ्यास से ही इस तर्कसंगत परिणति तक पहुँचा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

116. सन्दर्भ 47, पृ० 95-96.

117. (क) तत्त्वाभ्यासरूपी पुरुषार्थ की प्रगाढता के द्वारा पैदा किये गए अबुद्ध्यात्मक चेतनपरिणामरूप ज्ञानसंस्कार औपशमिक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय भी कार्य कर रहे होते हैं। दूसरे शब्दों में, उस काल में बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ तो कार्यकारी नहीं है, किन्तु तत्त्वाभ्यासरूपी बुद्ध्यात्मक पुरुषार्थ की सन्तानस्वरूप जो अबुद्ध्यात्मक ज्ञानसंस्कार हैं (देखिये : "ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च संस्कारः," सन्दर्भ 27), वे उस समय भी कार्यरत हैं। इस दृष्टि से देखने पर, स्पष्ट है मोक्षमार्ग के बीजरूप जो सम्यग्दर्शन है, उसका वपन करने में भी पुरुषार्थ की ही प्रधानता है।
(ख) देखिये, सन्दर्भ 114 में उद्धृत प्रवचनसार की गाथा पर श्रीजयसेनीय वृत्ति का यह वाक्य : "तदनन्तरम्-अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते . . . अभेदनयेन-आत्मा-एव-इति भावयतो दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते।"

118. पूर्वकालवर्ती परिणामसहित द्रव्य कारणरूप होता है और उत्तरकालवर्ती परिणामसहित द्रव्य कार्यरूप होता है, यह ऊपर सन्दर्भ 106(ख) में देख आए हैं। इस दृष्टि में "कार्य और कारण में कोई भेद नहीं है; वे दोनों एकाकार ही हैं; जैसे, पर्व व अंगुली; यही द्रव्यार्थिक नय है" (राजवार्तिक, 1/33/1)। इसके विपरीत, ऋजुसूत्रनय का विषय मात्र वर्तमानकालवर्ती होने से, कारणकार्यभाव इस नय के विषयक्षेत्र से बाहर है। अतः उत्पाद और व्यय, दोनों ही इस नय की अपेक्षा निर्हेतुक होते हैं। [जयधवला, सन्दर्भ 19(क), पृ० 206-09]

119. देखिये, सन्दर्भ 39.

120. सर्वार्थसिद्धि, अ० 8, सू० 23.

121. ज्ञानार्णव, सर्ग 35, छन्द 27.

122. तत्त्वप्रदीपिका टीका, परिशिष्ट, क्रम सं० 31 पर अकालनयविषयक निरूपण।
123. (क) अष्टसहस्री, कारिका 88; सन्दर्भ 9, पृ० 257.
(ख) अष्टसहस्री, तृतीय भाग, कारिका 88, सन्दर्भ 90, पृ० 441.
124. आप्तमीमांसा, कारिका 108.
125. (क) श्रम् (धातु) = to make effort; to exert one's self, especially in performing acts of austerity (Ref. 5, p. 1096)
= चेष्टा करना, तपश्चर्या करना, तपस्या के द्वारा इन्द्रियनिग्रह करना (सन्दर्भ 6, पृ० 1035)
(ख) श्रम (संज्ञा) = exertion; hard work of any kind, as in performing acts of bodily mortification, religious exercises and austerity (Ref. 5, p. 1096)
= चेष्टा, प्रयत्न, तपस्या, साधना, इन्द्रियनिग्रह (सन्दर्भ 6, पृ० 1035)
(ग) "श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः, तस्य भावं श्रामण्यं श्रमणशब्दस्य पुंसि प्रवृत्तिनिमित्तं तपःक्रिया श्रामण्यम्।" (भगवती आराधना, गाथा 71, विजयोदया टीका)
(घ) "पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो।।240।।
समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण जीविदमरणे समां समणो।।241।।" (प्रवचनसार)
अर्थ : जो पांच समितियों से सम्पन्न, तीन गुप्तियों से संरक्षित, पांच इन्द्रियों का संवर करने वाला, कषायों को जीतने वाला, दर्शन–ज्ञान से परिपूर्ण है; जिसे शत्रु और मित्रवर्ग समान हैं, सुख और दुःख समान हैं, प्रशंसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, जिसे लोष्ठ यानी मिट्टी का ढेला और स्वर्ण समान हैं, तथा जीवन और मरण के प्रति जिसको समता है, ऐसे संयत को *श्रमण* कहा गया है।

बी–137, विवेक विहार, दिल्ली 110 095
दूरभाष : (011) 6535 1637; 2215 6629

(प्रस्तुति : अनिल अग्रवाल)

आत्मख्याति टीका में प्रयुक्त 'क्रमनियमित' विशेषण का अभिप्रेतार्थ

— अनिल अग्रवाल

1. विषय–परिचय :

समयसार के 'सर्वविशुद्धज्ञान' अधिकार में गाथा 308–311 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने परिणामों या पर्यायों के लिये 'क्रमनियमित' विशेषण का प्रयोग किया है। *आत्मख्याति* व्याख्या का वह वाक्य है : **जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पाद्यमानो जीव एव, नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पाद्यमानोऽजीव एव, न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत्।** इसका शब्दानुवाद है : प्रथम तो, जीव है सो क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसी प्रकार, अजीव भी क्रमनियमित अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि सभी द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य होता है, जैसा कि स्वर्ण का कंगन आदि अपनी पर्यायों के साथ।

प्रश्न यह है कि 'क्रमनियमित परिणाम' से यहाँ क्या अभिप्राय है? *आत्मख्याति* के जो अनुवाद या व्याख्याएं देखने में आई हैं उनमें इसका कोई स्पष्ट अर्थ नहीं मिलता, या फिर उक्त विशेषण को ही नज़रअंदाज़ कर दिया गया है।[1] उधर, पिछले कोई साठ वर्षों से कुछ–एक लोग ऐसी मान्यता बनाए हुए हैं कि इसका अर्थ 'क्रमबद्ध पर्याय' है[2,3] — इस अर्थ की द्रव्यानुयोग में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप के साथ कोई संगति बैठती नहीं दिखाई देती; और फिर, ऐसा भी प्रतीत होता है कि आचार्यश्री के कृतित्व की समग्रता[4] के आलोक में भली–भाँति जाँचे–परखे बिना ही, उक्त मान्यता को स्वीकार कर लिया गया है। प्रकृत विशेषण के सही भावार्थ तक पहुँचना, इसलिये और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है। प्रस्तुत लेख आचार्य अमृतचन्द्र के अभिप्रेतार्थ तक पहुँचने का एक निष्पक्ष एवं विनम्र प्रयास है।

2. परिणामों या पर्यायों की क्रमिकता :

तत्त्वार्थसूत्रकार ने **गुणपर्ययवद् द्रव्यम्** (5/38) सूत्र द्वारा "गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है," यह प्रतिपादित किया है। गुण और पर्याय में अन्तर बतलाने के लिये आगम में अनेकानेक स्थलों पर गुणों को सहप्रवृत्त/सहवर्ती/सहभावी और पर्यायों को क्रमप्रवृत्त/क्रमवर्ती/क्रमभावी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि किसी भी द्रव्य के अनेक गुण तो उस द्रव्य में युगपत् अर्थात् एक–साथ रहते हैं, जबकि अनेकानेक पर्यायें काल की अपेक्षा क्रमशः यानी एक–के–बाद–एक होती हैं (चूँकि विवक्षित क्षण में द्रव्य की जो अवस्था है वही तो उसकी तत्क्षणवर्ती पर्याय है, इसलिये द्रव्य की किसी भी क्षण एक ही पर्याय होनी सम्भव है)। यही आशय *प्रवचनसार*, गाथा 10 की *तत्त्वप्रदीपिका* टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने व्यक्त किया है : **वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निवर्तितनिर्वृत्तिमच्च** अर्थात् वस्तु है वह ऊर्ध्वतासामान्यस्वरूप द्रव्यस्वभाव में, सहभावी विशेषस्वरूप गुणों में तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायों में रहने वाली है और उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्व से बनी हुई है।

इस प्रकार, 'पर्याय' और 'क्रम', इन दोनों के बीच एक साहचर्य–सा चला आया है; इस सन्दर्भ में जिस भाव को 'क्रम' शब्द सूचित करता है, वह है : कालापेक्ष उत्तरोत्तरता (temporal succession)। आगे चलकर हम देखेंगे कि (सन्दर्भ–विशेष के चलते) उक्त दोनों शब्दों के बीच इस 'साहचर्य' के अभ्यस्त–से हो जाने के कारण ही हम भूल कर बैठे हैं; जब आचार्यश्री ने एक अन्य सन्दर्भ में पर्यायों के लिये 'क्रमनियमित' विशेषण का प्रयोग किया, तो (उस सन्दर्भ की भिन्नता या विशिष्टता पर ग़ौर न करते हुए) अपने अभ्यास/आदत के वश ही हमने उसका अर्थ लगा लिया; और अपनी इस असावधानी के फलस्वरूप, उन महान विद्वान के शब्दों का भावार्थ समझने में हम असमर्थ रहे।

3. आचार्यश्री के प्रकृत वाक्य का सन्दर्भ :

सबसे पहले हमें उस सन्दर्भ को भली–भाँति समझना होगा जिसके अन्तर्गत अमृतचन्द्राचार्य ने उक्त वाक्य लिखा है। *समयसार* के 'कर्ताकर्म' अधिकार में,

आचार्य कुन्दकुन्द परमार्थतः जीव के पर–कर्तृत्व का निषेध करने के लिये कहते हैं :

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं।। 103।।

अर्थ : ***जो वस्तु जिस स्वकीय द्रव्य में और जिस स्वकीय गुण में वर्तती है, वह अन्य द्रव्य में और अन्य गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होती अर्थात् अन्यरूप नहीं पलटती।*** वह वस्तु जब अन्य में संक्रमण नहीं करती तो अन्य द्रव्य को उपादान–रूप–से कैसे परिणमा सकती है? (और, इसलिये, अन्य द्रव्य की कर्ता कैसे हो सकती है; क्योंकि "यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत् तु तत्कर्मः,"[5] इस परिभाषा के अनुसार, केवल उपादान ही कर्ता हो सकता है?)

इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं : "इस लोक में जो कोई, ***जितनी वस्तुएं हैं वे सब अपने चेतनस्वरूप अथवा अचेतनस्वरूप द्रव्य में और गुणों में सहज स्वभाव से अनादि से ही वर्त रही हैं; वस्तुस्थिति की इस अचलित सीमा को तोड़ना, उसका उल्लंघन करना अशक्य/असम्भव है। इसलिये जो वस्तु जिस द्रव्यरूप और जिन गुणोंरूप अनादि से है, वह उसी द्रव्यरूप और उन्हीं गुणोंरूप सदा रहती है, द्रव्य से द्रव्यान्तररूप और गुण से गुणान्तररूप उसका संक्रमण नहीं हो सकता।"*** (और जब अन्य द्रव्य या अन्य द्रव्य के गुणों में उसका संक्रमण नहीं हो सकता, तब वह उस अन्य वस्तु को कैसे परिणमित करा सकती है? अर्थात् नहीं करा सकती। इसीलिये परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता।)

ऊपर, तिरछे टाइप (italics) में दर्शाए गए आचार्य कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्राचार्य के वचनों पर ग़ौर करें तो स्पष्ट समझ में आता है कि **द्रव्य से द्रव्यान्तर और गुण से गुणान्तर होने की अशक्यता–असम्भवता वस्तुतः प्रत्येक चेतन या अचेतन द्रव्य के मूल स्वभाव में ही निहित है।** दरअसल, प्रत्येक द्रव्य में पाए जाने वाले 'अस्तित्व' स्वभाव की ही यह विशेषता है कि **जो द्रव्य जिस स्वभाव को प्राप्त है, वह उससे कभी भी च्युत नहीं होता**; *आलापपद्धति* के रचनाकार आचार्य देवसेन के शब्दों में : **स्वभावलाभात् अच्युतत्वादस्तिस्वभावः।**[6] यही अभिप्राय *प्रवचनसार* के 'ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन' अधिकार के अन्तर्गत, मूल गाथा 99 एवं उसकी *तत्त्वप्रदीपिका*

टीका, दोनों में व्यक्त किया गया है : **स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम्** अर्थात् स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से द्रव्य 'सत्' है, अस्तिस्वरूप है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है : परस्पर में अत्यन्त प्रगाढ़ संश्लेष–सम्बन्ध[7] को प्राप्त हुए जीव एवं पुद्गल द्रव्यों के प्रकरण में, पुद्गल–पुद्गल बन्ध के फलस्वरूप द्वि–अणुक आदि एवं जीव–पुद्गल बन्ध के फलस्वरूप मनुष्य, तिर्यंच आदि विभावपर्यायों के उत्पन्न होते हुए भी, क्या द्रव्यान्तरण घटित नहीं होता? ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार में ही आचार्य अमृतचन्द्र इसका उत्तर देते हैं कि नहीं, द्व्यणुकादि तथा मनुष्यादि वे पर्यायें तो कादाचित्क (कभी, किसी समय होने वाली) अर्थात् अनित्य हैं, अतः उत्पन्न हुआ करती हैं; किन्तु **द्रव्य तो अनादि–अनिधन अथवा त्रिकालस्थायी होने से उत्पन्न नहीं होता,[8] तो द्रव्यान्तरण कैसे हो सकता है?**[9] और फिर, पर्यायान्तरण घटित होते हुए भी, पर्यायों का उत्पाद–व्यय होते हुए भी; वे पर्यायें द्रव्यस्वभाव का कभी उल्लंघन नहीं करतीं : **यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्**[10] अर्थात् जो कुम्भ का सृजन/उत्पाद है और मृत्पिण्ड का संहार/व्यय है, वही मृत्तिका की स्थिति/ध्रौव्य है, क्योंकि **व्यतिरेक अर्थात् भेदरूप पर्यायें कभी अन्वय[11] अथवा द्रव्यसामान्य/द्रव्यस्वभाव का अतिक्रमण नहीं करतीं** (*प्रवचनसार*, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार, गाथा 100, *तत्त्वप्रदीपिका* टीका)।

ऊपर दिये गए आगम–प्रमाणों से स्पष्ट है कि :

(क) द्रव्य का द्रव्यान्तरण,
(ख) गुण का गुणान्तरण, तथा
(ग) द्रव्यपरिणामों द्वारा द्रव्यस्वभाव का अतिक्रमण,

इन तीनों ही घटनाओं की अशक्यता/असम्भवता प्रत्येक द्रव्य के मूल स्वभाव में अनादि से ही निहित है। क्योंकि वस्तु के स्वरूप को समझने–समझाने के लिये की जाने वाली भेदविवक्षा में, द्रव्य, गुण और पर्याय को भले ही भिन्न–भिन्न कहा जाए, किन्तु वस्तु के मूल स्वभाव को ग्रहण करने वाले अभेदनय की विवक्षा में तीनों एक–रूप–से वस्तु की अचलित सीमा अथवा मर्यादा का उल्लंघन या अतिक्रमण करने में असमर्थ हैं। *प्रवचनसार*, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार में गाथा 95 द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं यही अभिप्राय व्यक्त करते हैं : **स्वभाव को छोड़े बिना, जो उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यसंयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित है, उसे द्रव्य कहते हैं।**[12]

4. प्रकृत कथन का अभिप्राय :

अब वापिस आते हैं मूल मुद्दे पर : *समयसार* के गाथाचतुष्क 308–311 पर *आत्मख्याति* टीका का प्रथम वाक्य (देखिये लेख का पहला पैरा)। यहाँ भी उपरिचर्चित गाथा 103 वाला ही प्रकरण है : जीव के पर–अकर्तृत्व की सम्पुष्टि।[13] इस सन्दर्भ में ही अमृतचन्द्राचार्य ने 'क्रमनियमित' विशेषण का प्रयोग किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्यश्री द्वारा प्रयुक्त इस शब्दसमास का अर्थ ऐसा होना चाहिये कि सर्वप्रथम तो वह प्रकृत सन्दर्भ में संगतिपूर्ण और युक्तियुक्त हो; और फिर, सम्पूर्ण समयसार में (नहीं, सम्पूर्ण जिनागम में) प्रतिपादित विषयवस्तु के साथ भी उसका अविरोध सिद्ध हो।

पहले, प्रकृत सन्दर्भ को ही दृष्टि में रखें तो **जीव अथवा अजीव किसी भी द्रव्य के परिणामों या पर्यायों का वह क्रमनियमन ऐसा होना चाहिये कि** पर्यायों द्वारा उस नियम के अन्तर्गत रहते हुए, जीवद्रव्य जीवरूप ही वर्तता रहे और अजीवद्रव्य अजीवरूप ही वर्तता रहे; अर्थात् **पर्यायों द्वारा उस नियम के अन्तर्गत रहते हुए, द्रव्यान्तरण असम्भव हो** — तो क्या होना चाहिये वह अर्थ जो सन्दर्भ–संगति की इस कसौटी पर खरा उतरे?

पहली नजर में, इतना समझ में आता है कि परिणामों के लिये प्रयुक्त समासात्मक विशेषण 'क्रमनियमित' का प्रथम घटक — यानी 'क्रम' — किसी कालक्रम, काल की अपेक्षा उत्तरोत्तरता या एक–के–बाद–एकपने को सूचित नहीं करता (हालाँकि अनुवादकों द्वारा प्रायः ऐसा समझ लिया गया है); क्योंकि यदि हम परिणामों के 'क्रमवर्तित्व' अथवा 'क्रमिकता' को दृष्टि में लेते हैं तो उसकी सन्दर्भ से तनिक भी संगत्ति नहीं बैठती। दूसरी ओर, कुछ अन्य लोगों द्वारा प्रस्तावित, 'क्रमबद्धता' की परिकल्पना (hypothesis) पर यदि विचार करते हैं तो उसकी भी कोई संगति नहीं बनती। कारण सीधा–सा यह है कि **पर्यायों की 'क्रमिकता/क्रमवर्तित्व' अथवा कथित 'क्रमबद्धता', दोनों ही अवधारणाओं** (concepts) **में कोई ऐसी विलक्षणता, कोई ऐसी ख़ासियत नहीं है कि जो प्रकृत सन्दर्भ द्वारा अपेक्षित 'द्रव्यान्तरण की असम्भवता' को सुनिश्चित कर सके — अथवा स्वयं पर्यायों में ही यदि कोई ऐसी विशिष्टता है तो उस तथ्य को समुचित अभिव्यक्ति दे सके।**

आचार्यश्री के अभिप्रेत अर्थ को जब हम उनकी अन्य टीकाकृतियों एवं स्वतन्त्र रचनाओं में ढूँढते हैं (तथा शब्दकोश आदि की भी यथावश्यक सहायता लेते हैं), तब मालूम पड़ता है कि सिद्धान्त तथा अध्यात्म की भाँति ही संस्कृतभाषा के भी प्रकाण्ड विद्वान, श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने 'क्रम' शब्द का

प्रयोग किस अर्थ में किया है। सुप्रसिद्ध कोशकार मोनियर्-विलियम्स् के अनुसार 'क्रम्' धातु का प्रधान अर्थ है[14] : to step, walk, go, go towards, approach; तथा आप्टे के अनुसार[15] : चलना, पदार्पण करना, जाना; एवं 'क्रम' संज्ञा का प्रधान अर्थ है[16] : a step, going, proceeding, कदम, पग, गति। अब, ऊपर दिये गए आगम-प्रमाणों के आलोक में, 'क्रमनियमन' का सन्दर्भ-सापेक्ष अर्थ इस प्रकार समझ में आता है : 'क्रमनियमित पर्यायों' से तात्पर्य है, ऐसे नियमित या नियन्त्रित कदम/पग रखने वाली पर्यायें कि द्रव्यस्वभाव की सीमा का उल्लंघन न हो। दूसरे शब्दों में कहें तो : **गतिनियन्त्रित परिणाम** अर्थात् ऐसी पर्यायें जो गमन करते हुए भी द्रव्य की सीमा का अतिक्रमण न करें, ताकि द्रव्यान्तरण न हो; जिससे कि जीव जीवरूप ही रहे, अजीवरूप न हो। ज्ञातव्य है कि द्रव्यानुयोग में 'गमन' हमेशा से ही परिणमन का प्रतीक रहा है; जैसा कि *पंचास्तिकाय* में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द **द्रवति गच्छति तान् तान् ... पर्यायान्**[17] द्वारा अभिव्यक्त करते हैं; अथवा जैसे 'समय' शब्द की व्युत्पत्तिपरक परिभाषा में कहा गया है : **सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतया अयन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति स्वगुणपर्यायानिति समयाः पदार्थाः।**[18] और, द्रव्य व पर्यायों की इस कथंचित् भेदविवक्षा वाली, प्रतीकात्मक भाषा में चाहे द्रव्य को "गमन करते हुए उन-उन पर्यायों तक पहुँचने वाला, उनको प्राप्त करने वाला" कहा जाए; या चाहे पर्यायों को "द्रव्यसामान्यरूपी प्रांगण की सीमा के भीतर गमन करते हुए, निजद्रव्य को प्राप्त करने वालीं" कहा जाए, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता — दोनों रूपक एक ही वस्तुस्वरूप को दर्शाते हैं; जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने भी कहा है : **जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, अथवा पर्यायों को प्राप्त करते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं** (*सर्वार्थसिद्धि*, अ० 5, सू० 2); और जिसका विशद विवेचन भट्ट अकलंकदेव ने *राजवार्तिक* में किया है।[19]

अथवा, उक्त कोशों के अनुसार 'क्रम्' धातु का एक अन्य, प्रसिद्ध अर्थ है[20] : to go across, go over; पार करना, पार जाना, छलांग मारना (ग़ौरतलब है कि 'क्रम्' धातु के इस द्वितीय अर्थ में, 'क्रम्' का वही अर्थ है जिसके लिये 'अतिक्रम्' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है)। इस अर्थ में प्रयुक्त 'क्रम्' धातु के साथ 'ल्युट्' प्रत्यय से, 'क्रमण' शब्द बनता है; नपुंसकलिंग में 'क्रमणम्' हुआ, जिसका अर्थ है[21] : उल्लंघन, transgressing या अतिक्रमणरूप क्रिया।[22] जैसा कि मोनियर्-विलियम्स् द्वारा इंगित किया गया है, 'क्रमणम्' शब्द का इस अर्थ में व्यवहार (usage) दो हज़ार वर्ष से भी ज़्यादा पुराना है।[23] अतः स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र के समय से भी बहुत पहले से ही प्रचलित है।

इस अर्थ को दृष्टि में लेकर, **'येषां परिणामाणां (द्रव्यस्वभाव)क्रमणं नियन्त्रितं नियमितं वा, तानि क्रमनियमितानि परिणामानि'** — प्रकृत समास का इस प्रकार सन्दर्भ-सापेक्ष विग्रह करने पर,[24] आचार्यश्री द्वारा अभिप्रेत अर्थ में किसी प्रकार के सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती; जिसके अनुसार, आचार्यश्री के प्रकृत वाक्य का भावानुवाद इस प्रकार होगा :

जीव है वह जीवस्वभाव के क्रमण/उल्लंघन के विषय में नियन्त्रित, ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। इसी प्रकार, अजीव/पुद्गल भी अजीव/पुद्गलस्वभाव के क्रमण/उल्लंघन के विषय में नियन्त्रित, ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव/पुद्गल ही है, जीव नहीं; (परिणामों के द्वारा द्रव्यस्वभाव का उल्लंघन, नियमित या नियन्त्रित क्यों है — ऐसे संभावित प्रश्न के उत्तरस्वरूप, मूलग्रन्थकार का अनुसरण करते हुए ही, आचार्यश्री प्रकृत वाक्य का समापन इस प्रकार करते हैं :) क्योंकि सभी द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य होता है, जिस प्रकार कि स्वर्ण का कंगन आदि अपनी पर्यायों के साथ। [जैसा कि *समयसार*, गाथा 103 की व्याख्या में, आचार्यश्री पहले ही ज़ोर देकर कह आए हैं कि द्रव्य द्वारा वस्तुस्थिति की अचलित सीमा/मर्यादा को तोड़ना अशक्य है,[25] उसी प्रकार, पर्यायों द्वारा भी वस्तुस्थिति की उस अचलित सीमा/मर्यादा को तोड़ना अशक्य है, क्योंकि दोनों के बीच तादात्म्य होने से वे मूल वस्तुपने से एक ही हैं।[26]]

5. प्रस्तुत भावानुवाद का अन्यान्य ग्रन्थों के प्रासंगिक कथनों के साथ अविरोध :

जैसा कि अनुच्छेद 4 के प्रारम्भ में ज़िक्र कर आए हैं, प्रस्तुत भावानुवाद का अविरोध समयसार के अन्य स्थलों के साथ — तथा सम्पूर्ण जिनागम में प्रतिपादित विषयवस्तु के साथ भी — सिद्ध होता है या नहीं, इस बात का परीक्षण किया जाना अभी शेष है :

5.1 स्वयं 'आत्मख्याति' में पूर्वापर-अविरोध : क्रमनियमन' का उक्त भावार्थ प्रकृत सन्दर्भ के साथ तो संगत है ही, सम्पूर्ण *समयसार* में प्रतिपादित विषयवस्तु के साथ भी पूर्वापर-संगति को लिये हुए है; यह एकदम स्पष्ट हो जाता है जब हम कर्ताकर्म अधिकार की उपर्युक्त गाथा 103 पर फिर से ग़ौर

करते हैं। हम देखते हैं कि इस गाथा का तथा सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के गाथाचतुष्क 308–311 का सन्दर्भ एक ही है — परमार्थतः जीव के पर–कर्तृत्व का निषेध। आचार्य अमृतचन्द्र ने दोनों ही स्थलों पर एक–ही आगमसम्मत तर्कणाशैली को अपनाते हुए व्याख्या की है। जहाँ, गाथा 103 की टीका में वे कहते हैं कि द्रव्य और उसके गुण अनादि से वर्तन करते हुए वस्तु की स्वाभाविक, अचलित सीमाओं का उल्लंघन/अतिक्रमण नहीं कर सकते, द्रव्य से द्रव्यान्तररूप और गुण से गुणान्तररूप संक्रमण होना अशक्य है; वहीं गाथा 308–311 की व्याख्या में वे कहते हैं कि वस्तु के परिणाम अनादि से प्रतिक्षण बदलते हुए भी, पर्यायान्तरण घटित होते हुए भी — वे परिणाम वस्तु की स्वाभाविक, अचलित सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकते। ध्यान देने योग्य है कि **'अतिक्रमण', 'संक्रमण' और 'क्रमनियमन', इन सभी शब्दों के अवयवरूप जो 'क्रमण' अथवा 'क्रम' हैं — वे गत्यर्थक हैं,**[27] **कालापेक्ष उत्तरोत्तरता के सूचक नहीं; अतः प्रकृत में 'क्रमनियमन' का भावानुवाद है : 'क्रमनियन्त्रण, अथवा उल्लंघन/अतिक्रमण की अशक्यता'।** यदि हम पूर्वाग्रह एवं पक्षपात से रहित दृष्टिकोण से, ऊपर किये गए विश्लेषण को हृदयंगम करें तो निस्सन्देह समझ में आ जाएगा कि जिन लोगों ने भी 'क्रमनियमित परिणाम' का अर्थ 'क्रमबद्ध पर्याय' करने की कोशिश की है उन्होंने 'सन्दर्भ–संगति' एवं 'पूर्वापर–अविरोध' — शास्त्रों का सम्यग् अर्थ करने की पद्धति के इन दो सर्वमान्य एवं अपरिवर्त्य नियमों की अवहेलना की है।

5.2 'तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति' से अविरोध : *प्रवचनसार,* गाथा 100 की *तत्त्वप्रदीपिका* टीका का ऊपर उद्धृत किया गया वाक्यांश ("व्यतिरेकाणाम् अन्वय–अनतिक्रमणात्") एवं *एसमयसार,* गाथा 308–311 की *आत्मख्याति* टीका का प्रकृत कथन ("पर्यायों का क्रमनियमन"), इन दोनों का एक ही अभिप्राय है। संस्कृत काव्य एवं गद्य, अपनी दोनों ही प्रकार की रचनाओं में भाषा की निष्णात प्रौढ़ता के लिये स्मरणीय,[28] अमृतचन्द्रसूरि की लेखनी से यदि एक ही वस्तु–तथ्य की अभिव्यक्ति के लिये दो भिन्न रचनाओं में भिन्न–भिन्न शब्दावली निःसृत हुई है तो यह दार्शनिक विचारों/भावों, एवं उनके सम्प्रेषण के लिये प्रयुक्त की जाने वाली भाषा — दोनों ही पर उन महान विद्वान के सहज अधिकार का सुपरिणाम है। किसी भी सजग एवं सदाशय पाठक का दायित्व है कि वह आचार्यश्री की उन पंक्तियों में स्व–कल्पित अर्थ को पढ़ने

का प्रयास करने के बजाय, पूर्वाग्रह--रहित होकर उस भावार्थ को ग्रहण करे जो कि न केवल सन्दर्भ–संगत हो अपितु जिनागम में उसी विषय का प्रतिपादन अन्यत्र भी जहाँ किया गया हो, वहाँ भी उस भावार्थ की भली–भाँति संगति बैठती हो।

5.3 'समयव्याख्या' से अविरोध : *पंचास्तिकाय*, गाथा 10 की *समयव्याख्या* में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं : **एकजात्यविरोधिनि क्रमभुवां भावानां सन्ताने ...** अर्थात् एक जाति की अविरोधी अथवा जात्यन्तरण या ***द्रव्यान्तरण की विरोधी*** क्रमवर्ती पर्यायों का प्रवाह, उसमें ...। अब देखिये, **यहाँ आचार्यश्री स्वयं पर्यायों में द्रव्यान्तरणविरोध की विशेषता को प्रतिपादित कर रहे हैं, तब फिर द्रव्यान्तरण को रोकने के हेतु उन पर्यायों में कथित 'क्रमबद्धता' की कल्पना करने का क्या औचित्य है?**

5.4 अन्य आर्ष आचार्यों की कृतियों से अविरोध : ऊपर के तीनों उप–अनुच्छेदों में उल्लिखित अमृतचन्द्रसूरि के कथन, मूलग्रन्थकार आचार्य कुन्दकुन्द के वचनों का तो अनुसरण करते ही हैं; साथ ही अपने पूर्ववर्ती आचार्य अकलंकदेव द्वारा दी गई 'परिणाम' की परिभाषा का भी सम्यक् भावानुसरण करते हैं : **द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन विकारः ... परिणामः। द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वा द्रव्यार्थिकनयस्य अविवक्षातो न्यग्भूतां स्वां द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्यं बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकारः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः**[29] अर्थात् ***द्रव्य का अपनी स्वद्रव्यत्व जाति को नहीं छोड़ते हुए*** जो परिवर्तन होता है, उसे परिणाम कहते हैं; द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्य से भिन्न नहीं है, फिर भी द्रव्यार्थिकनय की अविवक्षा और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता में उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है; तात्पर्य यह है कि अपनी मौलिक जाति को न छोडते हुए, पूर्वपर्याय की निवृत्तिपूर्वक, जो उत्तरपर्याय का उत्पन्न होना है, वही परिणाम है। *षट्खण्डागम* के समर्थ टीकाकार एवं अमृतचन्द्रसूरि के पूर्ववर्ती, आचार्य वीरसेन भी ऐसा ही अभिप्राय प्रकट करते हैं : **स्वकासाधारणलक्षणापरित्यागेन द्रव्यान्तरासाधारणलक्षणपरिहारेण द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत् तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्** अर्थात् ***अपने असाधारणलक्षणमय स्वरूप को न छोड़ते हुए,*** तथा दूसरे द्रव्यों के असाधारण लक्षण का परिहार करते हुए (यानी उसका ग्रहण न करते हुए), जो उन–उन पर्यायों को वर्तमान में प्राप्त होता है, भविष्य में प्राप्त होगा, व भूत में

प्राप्त हुआ था, वह द्रव्य कहलाता है (*धवला*, प्रक्रम अनुयोगद्वार; पु० 15, पृ० 33)।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि *पंचास्तिकाय*, *प्रवचनसार* एवं *समयसार* — इन परमागमस्वरूप ग्रन्थत्रय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित टीकाओं में परस्पर इस विषय पर न केवल पूर्ण संगति है; बल्कि उनकी व्याख्याएं मूलग्रन्थकार आचार्य कुन्दकुन्द, तथा भट्ट अकलंकदेव व वीरसेन स्वामी जैसे प्रामाणिक आचार्यों के वचनों के भी पूर्णतः अविरुद्ध हैं; जैसा कि स्वाभाविक रूप से, ऐसे महान आचार्य से अपेक्षित ही है। फिर भी, पर्यायों की तथाकथित क्रमबद्धता का समर्थक कोई व्यक्ति, आचार्यश्री के कुछ वचनों का — बिना किसी अन्तर्बाह्य साक्ष्य के — यदि ऐसा अर्थ करता है कि जिससे उनकी तीनों टीकाकृतियों के बीच ही अर्थ की विसंगति (inconsistency) का प्रसंग पैदा हो जाए, तो उस व्यक्ति के ऐसे प्रयास को मज़बूरन, न केवल ऐसे महान् आचार्य की, बल्कि समस्त जिनवाणी की भी, विराधना करने का दुष्प्रयास ही समझना पड़ेगा।

5.5 'तत्त्वार्थसूत्र'–आधारित कृतियों से अविरोध : ऊपर दिये गए अनेकानेक साक्ष्यों को देखने के बाद भी, यदि किसी जिज्ञासु को कोई सन्देह रह गया हो, तो उसे आचार्य अमृतचन्द्र की स्वतन्त्र कृति *तत्त्वार्थसार* के तृतीय अधिकार में 'परिणाम', 'उत्पाद' एवं 'व्यय' का निरूपण देखना चाहिये :

स्वजातेरविरोधेन विकारो यो हि वस्तुनः।
परिणामः स निर्दिष्टो . . . जिनैः।।46।।

द्रव्यस्य स्यात्समुत्पादश्चेतनस्येतरस्य च।
भावान्तरपरिप्राप्तिः निजां जातिमनुज्झतः।।6।।
स्वजातेरविरोधेन द्रव्यस्य द्विविधस्य हि।
विगमः पूर्वभावस्य व्यय इत्यभिधीयते।।7।।

अर्थ : **अपनी जाति का विरोध न करते हुए** (अर्थात् जात्यन्तरण के विरोधपूर्वक) वस्तु का जो विकार है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने परिणाम कहा है। **अपनी** (चैतन्य अथवा पौद्गलिक आदि) **जाति को नहीं छोड़ते हुए,** चेतन व अचेतन द्रव्य को जो पर्यायान्तर की प्राप्ति होती है, वह उत्पाद कहलाता है। **अपनी जाति का विरोध न करते हुए,** चेतन व अचेतन द्रव्य की पूर्व पर्याय का जो नाश है, वह व्यय कहलाता है।

यहाँ भी आचार्यश्री ने उस विशेषता ('स्वजाति को न छोड़ना' या 'स्वजाति का अविरोध', यानी जात्यन्तरण/द्रव्यान्तरण का विरोध) को परिणाम/पर्याय की एवं उत्पाद–व्यय की मूल अवधारणा में निहित माना है; जिसके हेतु कुछ लोगों को 'क्रमबद्धता' की कल्पना करने का श्रमभार व्यर्थ में ही वहन करना पड़ा है! आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त श्लोक अपने पूर्ववर्ती आचार्य पूज्यपाद के इन वचनों का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं : **चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वा जातिमजहत उभयनिमित्तवशाद् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनं उत्पादः मृतपिण्डस्य घटपर्यायवत्। तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः** (त० सू०, 5/30; *सर्वार्थसिद्धि* टीका)। भट्ट अकलंकदेव एवं आचार्य विद्यानन्दि ने भी, *राजवार्तिक* तथा *श्लोकवार्तिक* में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए, सर्वार्थसिद्धि–सदृश ही आशय व्यक्त किया है।

क्या यह सिर्फ़ एक संयोग है कि सभी आचार्य समवेत स्वर में पर्यायों में द्रव्यान्तरणविरोध की विशेषता को प्रतिपादित कर रहे हैं? नहीं, यह कोई संयोग नहीं है; वे तो वस्तु–तथ्य को मात्र अभिव्यक्त कर रहे हैं — जो वस्तुस्वरूप इन सभी निःस्पृह निर्ग्रन्थों को सर्वज्ञकथित आगम की अविच्छिन्न परम्परा द्वारा प्राप्त हुआ है। और, सर्वविदित है कि ग्रन्थ–रचना करने वाले वीतरागी, आर्ष आचार्यों की भिन्नता से 'वाचक' शब्दों के चयन में भले ही कुछ भिन्नता हो जाए, किन्तु उन शब्दों के 'वाच्यार्थ' का, यानी वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन कुछ भिन्नता को प्राप्त नहीं हो जाता — जिनसिद्धान्त किसी व्यक्ति की कल्पना पर नहीं, प्रत्युत ज्ञेयों/वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप पर आधारित है।[30]

6. उपसंहार :

अन्त में, किसी भी प्रकार के संशय या सन्देह के निरसन हेतु, पुनरुक्ति–दोष को भी सहन करते हुए, यह दोहराना उचित होगा कि जिनागम के अनुसार (क) द्रव्य का द्रव्यान्तरण, (ख) गुण का गुणान्तरण, तथा (ग) द्रव्यपरिणामों द्वारा द्रव्यस्वभाव का अतिक्रमण, इन तीनों ही घटनाओं की अशक्यता/असम्भवता प्रत्येक द्रव्य के मूल स्वभाव में अनादि से ही अन्तर्निहित है। भेदविवक्षा में चाहे द्रव्य/द्रव्यस्वभाव, गुण और पर्याय को कथंचित् भिन्न–भिन्न कहा जाता हो, फिर भी वस्तु के मूल स्वभाव को ग्रहण करने वाले अभेदनय की विवक्षा में तीनों एक–रूप–से वस्तु की अचलित सीमा अथवा मर्यादा का उल्लंघन या अतिक्रमण करने में असमर्थ हैं। यहाँ पर, द्रव्यस्वभाव के अन्तर्गत ध्रौव्य को, एवं पर्यायों

के अन्तर्गत उत्पाद–व्यय को भी शामिल कर लेना चाहिये, जैसा कि ऊपर दिये गए विभिन्न आर्ष आचार्यों के उद्धरणों से सुस्पष्ट है।

जब वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि द्रव्य स्वयं तो द्रव्यान्तरण की अशक्यता सुनिश्चित करने में समर्थ है ही, पर्यायें भी उसी सुनिश्चितकारिता से सज्जित हैं — जिस सामर्थ्य को स्पष्ट रूप से बतलाने के लिये ही आचार्यश्री ने प्रकृत वाक्य के अन्त में **सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात्** कहना ज़रूरी समझा है — तब उन 'समर्थ' परिणामों/पर्यायों को उसी कार्य (द्रव्यान्तरण की अशक्यता) की सुनिश्चिति हेतु 'क्रमबद्धता' रूपी अक्षम बैसाखी की ज़रूरत भला क्यों पड़ने लगी? साफ़ ज़ाहिर है कि कथित 'क्रमबद्धता' चाहे जिस किसी व्यक्ति की भी कल्पना की उपज हो, वहाँ द्रव्यानुयोग के मूल सिद्धान्तों को आत्मसात् करने में कोई गहरी चूक ज़रूर हुई है।

इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थत्रय के अभ्यासी, अनुभवी महानुभावों का एक कथन ध्यान में आता है[31] कि *समयसार* के अध्ययन से पहले *प्रवचनसार* का गंभीर अध्ययन किया जाना आवश्यक है। "क्रमनियमन का अर्थ क्रमबद्धता है," ऐसी कल्पना अथवा परिकल्पना को पेश किये जाने से पहले, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार के प्रारम्भ की (द्रव्य–गुण–पर्याय का निरूपण करने वाली) दस–बारह गाथाओं के और उन पर तत्त्वप्रदीपिका टीका के भावार्थ को यदि सम्यक्रूपेण हृदयंगम किया गया होता; और उनके आलोक में "आचार्य अमृतचन्द्र का अभिप्राय क्या है," यदि इस प्रश्न पर ईमानदारीपूर्वक ऊहापोह किया गया होता तो सम्भवतः इस विवाद का जन्म ही न होता। तो भी, न्यायोचित होगा कि उक्त कल्पना के जनक को निष्पक्षभाव से धन्यवाद दिया जाए, क्योंकि किसी मुद्दे के विवादग्रस्त होने पर ही वह विचारणा के केन्द्रबिन्दु (focus) पर आता है, और बहुधा देखा गया है कि मुद्दे का फ़ोकस पर आना उसका हल खोजे जाने में एक निमित्त हो जाता है।

कृतज्ञताभिव्यक्ति : जिन्होंने साठ के दशक में प्रकाशित एक ट्रैक्ट[32] के माध्यम से, 'पर्यायों की क्रमबद्धता' की कथित अवधारणा का अनेकानेक आगम–प्रमाणों के आधार से भली–भाँति निष्पक्ष परीक्षण करके, उसकी अयथार्थता को प्रतिपादित किया था — ऐसे अपने प्रथम गुरु, करणानुयोगविशेषज्ञ, सिद्धान्तमर्मज्ञ स्व० श्री रतनचन्दजी जैन मुख्तार की स्मृति को यह लघुलेख कृतज्ञभाव से समर्पित है, जिन्होंने ही इस अज्ञ का जिनसिद्धान्त में प्रवेश भी कराया।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियां :

1. देखिये :

   (क) आत्मख्याति–समन्वित समयप्राभृत; ढूंढारी हिन्दी वचनिका : पं० जयचन्द जी छाबडा (श्री मुसद्दीलाल जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, दरियागंज, नई दिल्ली, 1988); पृ० 463–65.

   (ख) आत्मख्याति एवं तात्पर्यवृत्ति–समन्वित समयसार; पं० जयचन्दजी छाबड़ा की वचनिका के खडी-बोली रूपान्तर सहित संशोधित संस्करण (अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 1959), पृ० 396–98.

   (ग) समयसार, प्रवचन–सहित, सम्पादन : डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य (श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी, तृ० सं०, 2002), पृ० 322–23.

   (घ) Samayasara (including Atmakhyati); Introduction and Translation : Prof. A. Chakravarti (Bharatiya Jnanapitha, Kashi, 1st Edn., 1950), pp. 191-92.

   (ड) आत्मख्याति, तात्पर्यवृत्ति एवं स्वोपज्ञ–तत्त्वप्रबोधिनी टीकात्रय–समन्वित समयसार, टीका–अनुवाद–सम्पादन : पं० मोतीचन्द्र कोठारी (श्री ऋषभनाथ दि० जैन ग्रन्थमाला, फलटण, 1969), खण्ड 4, पृ० 1199–1203.

2. देखिये :

   (क) आत्मख्याति–समन्वित समयसार; पं० जयचन्दजी छाबडा की वचनिका पर आधारित गुजराती व्याख्या : पं० हिम्मतलाल जेठालाल शाह (सोनगढ), गुजराती व्याख्या का हिन्दी रूपान्तर : पं० परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ (पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट प्रकाशन, जयपुर, 1983); पृ० 493–95.

   (ख) क्रमबद्धपर्याय; डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल (श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 1980); पृ० 18–19.

3. 'क्रमबद्धपर्याय', इस शब्द का जिक्र करने वाली सम्भवतः पहली पुस्तक — वस्तुविज्ञानसार, गुजराती से हिन्दी अनुवाद : पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ; श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, काठियावाड, 1948.

4. सर्वविदित है कि समयसार पर 'आत्मख्याति', प्रवचनसार पर 'तत्त्वप्रदीपिका', पंचास्तिकाय पर 'समयव्याख्या' — ये तीन टीकाग्रन्थ, तथा 'तत्त्वार्थसार', 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' और 'लघुतत्त्वस्फोट' — ये तीन स्वतन्त्र कृतियां; इस प्रकार कुल छह रचनाएं आचार्य अमृतचन्द्र का अभी तक ज्ञात कृतित्व है।

5. "जो परिणमित होता है वह 'कर्ता' है; (परिणमित होने वाले या परिणमन करने वाले का) जो परिणाम है वह उसका 'कर्म' अथवा 'कार्य' है" (समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश संख्या 51, पूर्वार्द्ध)। इस प्रकार, 'कर्ता' (उपादान) एवं उसका परिणामरूपी 'कार्य', दोनों सदा एक ही द्रव्य में होते हैं। यह परिभाषा निश्चयनय की विषयभूत है। अन्यत्र, जहाँ अन्य (निमित्तरूप) द्रव्य को 'कर्ता' कहा जाता है, वहाँ व्यवहार से ऐसा कहा जाता है।

6. आलापपद्धति, सूत्र 106, हिन्दी अनुवाद एवं टीका : पं० रतनचन्दजी जैन मुख्तार (श्री शान्तिवीर दि० जैन संस्थान, श्रीमहावीरजी, 1970); पृ० 149.

7. देखिये : 'जैनदर्शन में बन्ध का स्वरूप : वैज्ञानिक अवधारणाओं के सन्दर्भ में', लेखक : अनिलकुमार गुप्त; 'श्रमण' (पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी), वर्ष 26, अंक 5 (मार्च 1975), पृ० 3–9.
8. "यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः। द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्।" अर्थ : जो द्रव्यों से उत्पन्न होता है वह द्रव्यान्तर नहीं है; किन्तु कादाचित्क या अनित्य होने से पर्याय है, जैसे द्वि–अणुक इत्यादि और मनुष्य इत्यादि। पुनश्च, द्रव्य तो अनवधि/सीमारहित यानी अनादि–अनन्त अथवा त्रिकाल–अवस्थायी होने से उत्पन्न नहीं होता। (प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार, गाथा 98, तत्त्वप्रदीपिका टीका)
9. "न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते।" अर्थ : वास्तव में, द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सभी द्रव्यों के स्वभावसिद्धपना है (सभी द्रव्य, परद्रव्य की अपेक्षा के बिना, अपने स्वभाव से ही सिद्ध हैं); और उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता से है, क्योंकि अनादिनिधन पदार्थ अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। (प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार, गाथा 98, तत्त्वप्रदीपिका टीका)
10. प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार, गाथा 100, तत्त्वप्रदीपिका टीका (श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर, पंचमावृत्ति, 1985); देखिये पृ० 199, *पादटिप्पणी में दिया गया संशोधित पाठ।*
11. (क) "स्वजात्यपरित्यागेनावस्थितिरन्वयः" अर्थात् अपनी जाति को न छोड़ते हुए उसी रूप से अवस्थित रहना अन्वय है। (राजवार्तिक, अ० 5, सू० 2, वा० 1)
    (ख) सामान्य, द्रव्य, अन्वय और वस्तु, ये सब *अविशेष रूप से* (यानी 'विशेष' की विवक्षा न करते हुए) एकार्थवाचक हैं। (पंचाध्यायी, अ० 1, श्लोक 143)
    (ग) "अन्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः।" अर्थात् अन्वय है सो द्रव्य या द्रव्यसामान्य है; अन्वय/द्रव्य का विशेषण है सो गुण है; और अन्वय/द्रव्य के व्यतिरेक अथवा भेद हैं वे पर्यायें हैं। (प्रवचनसार, गाथा 80, तत्त्वप्रदीपिका टीका)
12. अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसम्बद्धम्।
    गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति।।
    (प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार, गाथा 95, संस्कृत छाया)
13. समयसार पर दिये गए अपने प्रवचनों में, क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णी ने गाथा 103 एवं गाथाचतुष्क 308–11 के बीच विषयसाम्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है; देखिये सन्दर्भ 1(ग)।
14. Sanskrit-English Dictionary, Monier-Williams (Motilal Banarsidass, 2002), p. 319.
15. संस्कृत–हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे (मोतीलाल बनारसीदास, द्वि० सं०, 1969), पृ० 309.
16. देखिये : (क) सन्दर्भ 14; (ख) सन्दर्भ 15, पृ० 310.
17. पंचास्तिकाय, गाथा 9, पूर्वार्द्ध की संस्कृत छाया।
18. परमाध्यात्मतरंगिणी : अमृतचन्द्राचार्य के समयसार–कलश पर शुभचन्द्र भट्टारक की टीका; वीरसेवामन्दिर प्रकाशन, दिल्ली, 1990, पृ० 2.

19. "स्व–पर कारणों से होने वाली उत्पादव्ययरूप पर्यायों द्वारा जो प्राप्त किया जाता है वह द्रव्य है (उभयहेतुकोत्पादविगमै. तैस्तैः स्वपर्यायैः द्रूयन्ते गम्यन्ते इति द्रव्यम्); अथवा उन निज पर्यायों को जो प्राप्त करते हैं वे द्रव्य हैं (द्रवन्ति गच्छन्ति तान् पर्यायानिति द्रव्याणि)। यद्यपि पर्यायें या उत्पाद–व्यय उस द्रव्य से अभिन्न होते हैं, तथापि कर्ता और कर्म में भेदविवक्षा करके 'द्रवति गच्छति' यह निर्देश बन जाता है। जिस समय द्रव्य को कर्म और पर्यायों को कर्ता बनाते हैं तब कर्म में 'द्रु' धातु से 'यत्' प्रत्यय हो जाता है; और जब द्रव्य को कर्ता मानते हैं तब बहुलापेक्षयाकर्ता में 'यत्' प्रत्यय हो जाता है। तात्पर्य यह कि *उत्पाद और विनाश आदि अनेक पर्यायों के होते रहने पर भी, जो सान्ततिक द्रव्यदृष्टि से गमन करता जाए वह द्रव्य है* (नानापर्यायोत्पादविनाशाविच्छेदेऽपि सान्ततिकद्रव्यार्थादेशवशेन द्रवणात् गमनात् संप्रत्ययाद् द्रव्याणि)।" [राजवार्तिक, अ० 5, सू० 2, वार्तिक 1, प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य के 'हिन्दी–सार' का संक्षेप; भारतीय ज्ञानपीठ, पाँचवां सं०, 1999; मूल संस्कृत, पृ० 436; हिन्दीसार, पृ० 655–56]

भट्ट अकलंकदेव के इस विवेचन से पूर्णतः सहमत, महान तार्किक आचार्य विद्यानन्दि इतना और जोड़ना चाहते हैं कि "द्रव्य और पर्यायों के बीच कथंचित् भेद एवं कथंचित् अभेद मानने वाले स्याद्वादियों के यहाँ ही 'द्रव्य' शब्द का कर्म व कर्ता, दोनों साधनों में निष्पन्न होने में कोई विरोध नहीं आता; किन्तु सर्वथा एकान्तवादी (यानी सर्वथा भेदवादी, या सर्वथा अभेदवादी) लोगों के यहाँ ऐसा होना असम्भव है, उनके यहाँ तो विरोध हो जाने से वह कर्मपना और कर्तृपना एक में कभी नहीं बन पाता है : कर्मकर्तृसाधनत्वोपपत्तेः द्रव्यशब्दस्य स्याद्वादिनां विरोधानवतारात्। सर्वथैकान्तवादिनां तु तदनुपपत्तिर्विरोधात्।" (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अ० 5, सू० 2; श्री गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1918; पृ० 394)

20. देखिये : सन्दर्भ 14 व 15.
21. देखिये : (क) सन्दर्भ 15, पृ० 310; (ख) सन्दर्भ 14, पृ० 320.
22. transgress = अतिक्रमण करना (अँगरेजी–हिन्दी कोश, फ़ादर कामिल बुल्के; एस० चन्द एण्ड कम्पनी, तृ० सं०, 1997, पृ० 755)
23. मोनियर्–विलियम्स् के अनुसार, 'क्रमणम्' शब्द का उक्त अर्थ में प्रयोग वाल्मीकि की रामायण में, तथा महाभारत में भी पाया जाता है। इन महाकाव्यों का रचनाकाल भारतविद्याविदों (Indologists) द्वारा "ईसापूर्व पांचवीं शती या उसके आस–पास" अनुमानित है। (देखिये, History of Philosophy : Eastern and Western, Eds. : Dr. S. Radhakrishnan and others, George Allen & Unwin, 1952, Vol. I, pp. 75-106)
24. इस समास–विग्रह को करते हुए, आचार्य अमृतचन्द्र के पहले ही उद्धृत किये जा चुके वाक्यांश "व्यतिरेकाणां अन्वय–अनतिक्रमणात्" का ही अनुसरण किया गया है।
25. ऐसे ही, सदृश प्रकरण में, प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार, गाथा 99 की व्याख्या में, आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं : "स्वभावत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानतिक्रमात् ..." अर्थात् स्वभाव से ही उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यरूप *त्रिलक्षणात्मक परिणामपद्धति में प्रवर्तमान द्रव्य, स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता।*
26. आप्तमीमांसा में स्वामी समन्तभद्र कहते हैं :

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।

परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ।।71।।
संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा।।72।।

अर्थ : द्रव्य और पर्यायों में ऐक्य या अभेद है, क्योंकि दोनों में अव्यतिरेक पाया जाता है (अर्थात् द्रव्य से पर्याय को पृथक् नहीं किया जा सकता, और पर्याय से द्रव्य को पृथक् नहीं किया जा सकता); उनके बीच जो भेद दिखाई देता है वह परिणामविशेष का भेद, शक्तिमान व शक्ति का भेद, तथा संज्ञाविशेष, संख्याविशेष, स्वलक्षणविशेष और प्रयोजनविशेष आदि की अपेक्षा ही दिखाई देता है; तात्पर्य यह है कि द्रव्य और पर्यायों में यह भिन्नत्व 'सर्वथा' नहीं है।

27. ध्यान देने योग्य है कि क्रमण अथवा उल्लंघन, मूलतः गति का ही एक प्रकार है।

28. आचार्य अमृतचन्द्रकृत 'तत्त्वार्थसार' की प्रस्तावना में डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य लिखते हैं : "(अमृतचन्द्रसूरि) संस्कृत भाषा के महान विद्वान तथा अध्यात्मतत्त्व के अनुपम ज्ञाता थे। कुन्दकुन्दस्वामी के समयसारादि ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण टीकाएं लिखकर इन्होंने कुन्दकुन्दस्वामी के हार्द को प्रकट किया है।... वे जहाँ कुन्दकुन्दस्वामी के निश्चयनय–प्रधान ग्रन्थों की व्याख्या करते हैं वहाँ उन व्याख्याओं के प्रारम्भ में ही अनेकान्त का स्मरण कर पाठकों को सचेत कर देते हैं कि अनेकान्त ही जिनागम का प्राण है।" (तत्त्वार्थसार; श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1970; प्रस्तावना, पृ० 24)

अमृतचन्द्राचार्य की स्तुत्यात्मक कृति 'लघुतत्त्वस्फोट' के सम्पादकीय में साहित्याचार्य जी लिखते हैं : "(लघुतत्त्वस्फोट) ग्रन्थ की भाषा प्रौढ़ संस्कृत है। अमृतचन्द्राचार्य संस्कृतभाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे, यह हम समयसारादि ग्रन्थों की टीकाओं के माध्यम से जानते हैं। समयसारादि जैसे अध्यात्म ग्रन्थों की टीका में भी जब उन्होंने भाषा की प्रौढता को नहीं छोड़ा, तब इस स्वतन्त्र ग्रन्थ में कैसे छोड़ सकते थे?" (लघुतत्त्वस्फोट; श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी, 1981; सम्पादकीय, पृ० 7)

29. राजवार्तिक, अध्याय 5, सूत्र 22, वार्तिक 10.

30. आचार्य वीरसेन के शब्दों में : *"ज्ञेय का अनुसरण करने वाला होने से* अथवा न्यायरूप (युक्त्यात्मक) होने से *(जिन) सिद्धान्त न्याय्य (correct, right, proper) कहलाता है।"* (*धवला* टीका; 5, 5, 50; पु० 13, पृ० 286)

31. उदाहरणार्थ, श्री बाबूलालजी जैन (कलकत्तावाले; सम्प्रति विवेक–विहार, दिल्लीवासी) की शास्त्रसभा में यह आमर्श कई बार सुनने को मिला है।

32. 'क्रमबद्धपर्याय और नियतिवाद' शीर्षक से यह ट्रैक्ट, स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होने के अलावा, इस ग्रन्थ में भी मुद्रित है — 'पं० रतनचन्द जैन मुख्तार : व्यक्तित्व और कृतित्व' (सम्पादन : पं० जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री एवं डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी; आचार्यश्री शिवसागर दि० जैन ग्रन्थमाला, शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी, 1989); जिल्द 2, पृ० 1207–56.

'सुदर्शन–निलय', 13–बी, आर्–ब्लॉक
दिलशाद गार्डन, दिल्ली 110 095
दूरभाष : (011) 2213 7590; 2257 3621

जैनकला के प्रतीक और प्रतीकवाद*

लेखक– ए. के. भट्टाचार्य, डिप्टीकीपर - राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली
अनुवादक– जयभगवान जैन, एडवोकेट

जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण परम्परा में प्रतिमा-विहीन[1] (aniconic) अतत्-प्रतीकों[2] की रचना इस ढंग से की जाती है कि उनमें संस्थापित मनुष्य या वस्तु की सजीव छवि दिखाई नहीं पड़ती। मानव-मस्तिष्क ने अत्यन्त प्राचीन काल से ही परम देवत्व की कल्पना सर्वथा समान प्रतिरूपों में न करके अतत्-प्रतीकों में की है। मगर ये अतत्-प्रतीक कुछ ऐसे भावों और मूल्यों से सम्बन्धित हैं जो इन्हें सजावटी व कलात्मक रूपों से विलग कर देते हैं। ये अपना सुझाव आंखों को नहीं, अपितु मन को देते हैं। भारतीय धर्मों व पारमार्थिक विचारणाओं में सांकेतिक पूजा का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी कि धार्मिक परम्पराएँ। रूपभेद व मूर्तिकला, जिसका विषय मानवाकार मूर्तियोंका अध्ययन है, नितान्त एक उत्तरकालीन विकास है।

आरम्भिक बौद्ध-साहित्य में हमें बुद्ध भगवान् द्वारा कहे हुए ऐसे वाक्यों का परिचय मिलता है जिनमें मानवाकार मूर्तियों के लिए अरुचि प्रकट की गई है। उन्हीं स्थलों पर ऐसे चैत्यों को मान्य ठहराया गया है जिनकी गणना आनुषङ्गिक प्रतीकों में की जा सकती है। इनका प्रयोग प्रतिनिधि रूप से ऐसे समय के लिए है जब भगवान् स्वयं उपस्थित न हों। ये आनुषङ्गिक प्रतीक बौद्ध-कला की विशेषता हैं। जैनकला में इसके समान कोई रूप देखने में नहीं आता। जैन लोगों ने अपनी पांडुलिपियों तथा धार्मिक शिल्पकला में जिन सांकेतिक चिह्नों का प्रयोग किया है वे अधिकतर एक या कई पूज्य वस्तुओं के प्रतीक हैं। आरंभिक बौद्धकला में मूर्तिकला का अभाव और उत्तरकाल में उसकी बाहुल्यता का कारण बुद्ध भगवान् की मूर्तिकला के प्रति उपर्युक्त अरुचि बतलाई जाती है। एक बौद्ध उपासक की व्याख्या करते हुये 'दिव्यावदान' में स्पष्ट कहा है कि वह मूर्ति व बिम्ब की पूजा नहीं करता, अपितु वह उन आदर्शों की पूजा करता है जिनके कि वे प्रतीक हैं।

हिन्दू तथा बौद्ध लोगों के समान, जैन लोग भी मूर्तिपूजा के महत्त्व-सम्बन्धी अपने विशेष विचार रखते हैं। इनके अनुसार मूर्तियों की स्थापना इसलिए नहीं

* 'अनेकान्त', वर्ष 14 (सन् 1956), किरण 7 में प्रकाशित आलेख।

की जाती कि वे तीर्थंकरों व अन्य माननीय देवताओं की समान आकृतियां हैं, अपितु इसलिए कि वे उनके गुणों का असली सार लिए हुए हैं। इन भौतिक पदार्थों में दिव्य गुणोंका प्रदर्शन ही उन्हें अभिप्रेत है, ताकि इनके दर्शनों से भक्तों के मन में दिव्य सत्ता का आभास हो सके। इन मूर्तियों की पूजा का अभिप्राय इनके द्वारा प्रदर्शित दिव्यात्माओं की पूजा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस तथ्य के आधार पर ही किसी सरोवर व भवन के अधिष्ठातृ देव की मान्यता का वास्तविक अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। इस तरह तीर्थंकर की मूर्ति, एक धर्मप्रवर्तक व धर्मसंस्थापक के उन सभी सम्भाव्य दिव्य गुणों का सामूहिक प्रतीक है, जिन्हें देखकर साधक के चित्त में इनके प्रति श्रद्धा पैदा होती है। इसीलिए कहा गया है –

'प्रतिष्ठानाम देहिनां वस्तुनश्च प्राधान्यमान्यवस्तुहेतुकं कर्म'

अर्थात् प्रतिष्ठा एक प्रकार का संस्कार है, जिसके द्वारा संस्थापित पुरुष व वस्तु की महत्ता और प्रभाव को मान्यता दी जाती है।

स्थापना या प्रतिष्ठावाद

एक यति आचार्य पद पर आरूढ़ होने पर दीक्षित गिना जाता है। एक ब्राह्मण वैदिक साहित्य के अध्ययन द्वारा दीक्षित होता है, एक क्षत्रिय राज्य-शासन संभालने पर, एक वैश्य वैश्य-वृत्ति धारण करने पर, एक शूद्र राजकीय अनुग्रह का पात्र होने पर, और एक कलाकार उसका मुखिया नियुक्त होने पर दीक्षित कहा जाता है। इस प्रकार की दीक्षा व मान्यता के समय इनके भाल पर तिलक लगाकर इनको सम्मानित किया जाता है। इन तिलक आदि चिह्नों का यद्यपि भौतिक दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नहीं है तथापि ये सामाजिक महत्ता व मान्यता के प्रतीक होने से बड़े महत्त्व के हैं। इसी तरह मूर्ति में जिन भगवान् के समस्त दिव्य गुणों का न्यास व स्थापन ही प्रतिष्ठा है। अथवा बिना किसी रूप के उनकी कल्पना करना ही प्रतिष्ठा है। ऐसे अवसर पर या तो जिन भगवान् के व्यक्तित्व का उनके गुण-समूह में प्रवेश कराया जाता है, या गुण-समूह देवता के व्यक्तित्व का अतिक्रम कर जाते हैं। इस तरह प्रस्तर, धातु, काष्ठ आदि पदार्थों में से रूप-सहित व रूप-रहित उत्कीर्ण हुए प्रतिबिम्ब जिन्हें जिन, शिव, विष्णु, बुद्ध, चंडी, क्षेत्रपाल आदि संज्ञाएं दी जाती हैं, पूज्य बन जाते हैं। चूंकि इनमें मान्यता द्वारा कल्पित देवत्व का समावेश किया जाता है। इसी तरह कल्पना द्वारा भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के गुणों का मूर्तियों में प्रदर्शन माना जाता है। और ठीक इसी तरह अर्हन्तों, सिद्धों आदि की मूर्तियों की

स्थापना के समय, तथा घरेलू जलाशयों और कूप-सम्बन्धी देवताओं की स्थापना के समय, उनमें दिव्य गुणों व विभूतियों की मान्यता की जाती है; उनका मूर्तियों में वास्तविक अवतरण अभिप्रेत नहीं होता। जब किसी रूप-सहित या रूप-रहित पदार्थों में संस्कारों द्वारा यह धारणा बना ली जाती है कि उसमें अमुक पुरुष व देव के समस्त शास्त्रीय लक्षण विद्यमान हैं, तो वह पदार्थ उस पुरुष या देव का प्रतिनिधि बन जाता है। धारणा द्वारा गुणों का न्यास या स्थापना ही प्रतिष्ठा है।

श्रुतेन सम्यग्ज्ञातस्य व्यवहारप्रसिद्धये स्थाप्यस्य कृतनाम्नोऽन्तः स्फुरतो न्यासगोचरे साकारे वा निराकारे विधिना यो विधीयते न्यासस्तदिदमित्युक्त्वा प्रतिष्ठा स्थापना च सा।'

उक्त स्थापनावाद जैनधर्म के देव-मूर्तिवाद से पूरे तौर पर मेल खाता है। क्योंकि परमेष्ठी-जिन मुक्त आत्मा हैं और वे जड़, अचेतन प्रस्तर व काष्ठखंडों में अवतरित नहीं हो सकते, जैसे कि शिव, विष्णु आदि हिन्दू देवताओं के सम्बन्ध में – जो कि अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देव माने जाते हैं – सम्भव माना जाता है। जैन और हिन्दू परम्पराओं में यह एक मौलिक अन्तर है, जिसे जैन मूर्तियों की स्थापत्यकला को अध्ययन करते समय सदा ध्यान में रखना ज़रूरी है। जैन धर्म में बुद्धिवाद यहां तक विकसित है कि वह ब्राह्मणिक मान्यता के समान आकाश, मेघगर्जना व विद्युद्घटा में किसी देवत्व को मान्यता नहीं देता। उसके अनुसार ये सब प्राकृतिक व वैज्ञानिक परिणमन है जो उक्त प्रकार की घटनाओं के लिए उत्तरदायी हैं; वर्षा वायु में मौजूद किन्हीं परिवर्तनों के कारण होती है, किसी दिव्य शक्ति की इच्छा के कारण नहीं। यह कहना सब असत्य है कि विश्व में आकाश-देवता, गर्जन-देवता, विद्युद् देवता आदि कोई देव सत्ता में मौजूद हैं; या यों कहना चाहिए कि 'देवता वर्षा करता है' इत्यादि प्रकार की सब बातें असत्य हैं। इस प्रकार की वचन-शैली साधु या साध्वी के लिए वर्ज्य है। अपितु कहना चाहिए कि वायु गुह्य अनुसारी मेघ छा गये हैं, झुक गये हैं, बरसने लगे हैं।

जैन अंनुश्रति में अर्हन्त व सिद्ध देवों की मानवाकार मूर्तियों की चर्चा प्राचीन काल से चली आती है। उड़ीसा देश में उदयगिरि-खंडगिरि-स्थित कलिंग सम्राट् खारवेल के यहाँ जिस आदिनाथ ऋषभदेव की मूर्तिका उल्लेख है उससे नन्दवंश के काल में भी तीर्थंकरों की मूर्तियों का होना सिद्ध होता है।

जैसा कि कल्पसूत्र में वर्णन है, पशुओं और देवताओं के चित्र यवनिका पर

चित्रित किये जाते थे। 'अन्तगडदशाओ' सुत्त में कथन है कि सुलसा ने हरि नैगमेषित देव की मूर्ति को प्रतिष्ठित किया था और वह प्रतिदिन उसकी पूजा किया करती थी। प्रायः प्राचीनतम उपलब्ध जैन मूर्तियां कुशाणकाल की हैं, यद्यपि तीर्थंकरों की दो दिगम्बर मूर्तियां मौर्यकाल की भी उपलब्ध हुई हैं। परन्तु पूजायोग्य वस्तुओं के व कभी-कभी उन वस्तुओं के भी जो केवल लौकिक महत्त्व की हैं, या जो वैज्ञानिक धारणा को लिए हुए हैं, बहुत से प्रतीक व प्रतीकात्मक रचनाएँ जैन कला में और भी अधिक प्राचीन काल से पायी जाती हैं।

अग्नि का प्रतीक

जैन कला के प्रतीकों का उल्लेख हम अग्नि के प्रतीक से प्रारम्भ करते हैं। अग्नितत्त्व का सम्वन्ध जागरण व बोधि से है। आग्नेय शक्ति के अन्तिम स्रोत सूर्य को वेदों में जीवन और चेतना का सबसे बड़ा प्रेरक बतलाया गया है। यह प्रज्ञा की अर्चिषा है जिसके द्वारा 'मार' को पराजित किया जाता है। अमरावती के वे उघड़े हुए प्रतीक जिनमें बुद्ध भगवान् को अग्नि-स्तम्भ के रूप में दिखलाया गया है, वैदिक मान्यताओं के ही अवशेष हैं। वहां अग्निको अप् व पृथ्वी से उत्पन्न हुआ बतलाया गया है, चूँकि यह स्तम्भ कमल पर आधारित है। इसी तरह जैनधर्म में अग्नि को तेज व तेजस्वी आत्मा का चिह्न मानने की प्रथा इतनी ही पुरानी है जितना कि पुराने अंगों में आचारांग सूत्र। जैनदर्शन में विश्व के सभी एकेन्द्रिय जीवों को काय की अपेक्षा पांच भेदों में विभक्त किया गया है वायुकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, पृथ्वीकायिक और वनस्पतिकायिक। जैनतत्त्वज्ञान के कायवाद के अनुसार एकेन्द्रिय जीवों की उक्त कायिक-विभिन्नता उनके पूर्वोपार्जित कर्मों पर आधारित है। जव कोई जीव तेजस्कायिक या अग्निकायिक होने का कर्मबन्ध करता है, तो वह साधारण अग्नि, दीपशिखा, बड़वानल व विद्युत, तेज आदि कोई-सा भी रूप धारण कर सकता है। जैन प्रथा के अनुसार अग्नि, वाक् या वाणीका अधिष्टातृ देवता भी है।[3] जैन ग्रन्थों में जिन 16 शुभ स्वप्नों का उल्लेख आया है, उनमें एक अग्निशिखा-विषयक भी है। तैजस् सम्बन्धी जैन धारणा इतनी सम्पूर्ण है कि यह धूम-रहित अग्नि-शिखा को ही शुभ स्वप्न का विषय मानती है। अग्नि-शिखा जो शुभ स्वप्न का विषय मानी गई है, उस तेजस्वी आत्मा का ही सांकेतिक प्रतिरूप है, जो इस स्वप्न की पूर्ति में स्वर्ग से अवतरित हो जन्म लेने वाली है। यह धारणा जैनियों के षट्लेश्यावाद या जीवन-परिणतिवाद से भी बहुत मेल खाती है। यहां यह बतलाना रुचिकर

होगा कि उक्त विभिन्न षट्लेश्याओं या षट् प्रकार की जीवन-परिणतियों में से प्रत्येक का अपना-अपना विशेष वर्ण है। अग्नि व तेजस् लेश्या का वर्ण उदीयमान सूर्य के समान, दमकते हुए सुवर्णवत् होता है। यह तेजस्शक्ति या जीवन-परिणति जैन मान्यतानुसार कठोर तपस्या द्वारा सिद्ध होती है। साधारणतया यह शक्ति लोक उपकार के अर्थ प्रयुक्त होती है, परन्तु कभी कभी साधक इसका प्रयोग रोष के आवेश में विध्वंसक ढंग से भी कर बैठता है। प्राण-विज्ञान की दृष्टि से मानव-देह चार अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त तेजस् तत्त्वका भी बना हुआ कहा जाता है। यह मान्यता देह की क्रियात्मक रचना पर अवलम्बित है। वह तेज जो जीवन-रचना की सुरक्षा करता है, अनादि अग्नि व प्राथमिक अनादि जीवन-शक्ति का ही अंश है।

त्रिशूल का प्रतीक

बौद्ध धर्म और कट्टर ब्राह्मणिक धर्म में जीवन-सम्बन्धी विचारणा के फलस्वरूप 'जीवन-वृक्ष' प्रतीक का एक विशेष स्थान है। कला में, चाहे वह हिन्दू, बौद्ध या जैन कोई भी कला हो, जीवन सम्बन्धी सांकेतिक चिह्नों का विवेचन करते समय हम कदापि उनके मूल्य और महत्त्व को नहीं भुला सकते। सांची में रत्नजड़ित जीवन-वृक्ष के शिर और पाओं का तथा अमरावती में आग्नेय स्तंभो का जिन प्रतीकों द्वारा प्रदर्शन किया गया है, वे बौद्ध-कला में फैले हुए त्रिशूल के प्रतीक से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। इस स्थल पर हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि त्रिशूल का प्रतीक न केवल जैन और बौद्ध कला में ही पाया जाता है, अपितु इसकी परम्परा बहुत पुरानी है। वास्तव में वैश्वानर अग्नि के त्रिभावों की तीन शूलधारी त्रिशूल के प्रतीक में कायापलट हो गई है। पीछे की शैव कला में तो त्रिशूल का शिव के साथ विशेष सम्बन्ध रहा है। मथुरा के पुराने सांस्कृतिक केन्द्र से जो कलाकृतियां प्राप्त हुई हैं, उनसे तो यह सम्बन्ध और भी पुराना सिद्ध होता है। मोहनजोदड़ो की प्रागैतिहासिक संस्कृति को देखने से इस सम्बन्ध का प्रारम्भ और भी अधिक प्राचीन हो जाता है। कडफिसिस द्वितीय के शैव सिक्के तथा सिर्कप की शैव मुहर शैवधर्म के साथ त्रिशूल का सम्बन्ध व्यक्त करने के सबसे पुराने उदाहरण हैं। जैन कला में त्रिशूल दिग्देवता का एक पुराना प्रतीक रहा है। धार्मिक तथा लौकिक वास्तुकला के भवन निर्माण के स्थान पर धार्मिक भावना से कूर्मशिला स्थापित करने का विधान मिलता है। यही विधान उत्तरकालीन जैन शास्त्रों में भी पाया जाता है। 'वत्थुसारपयरणं में उक्त परम्परा का अनुसरण करते हुए कूर्मशिला की स्थापनार्थ न केवल उसी प्रकार के मंत्रों

का उल्लेख किया गया है, अपितु इस शिला की आठ दिशाओं में दिक्पालों के आठ प्रतीक रखे जाने का भी विधान है। इनमें से आठवें दिक्पाल के लिए जिस प्रतीक का प्रयोग हुआ है, वह त्रिशूल है। यह शिला की सौभायिनी पर रक्खा जाता है। यहां त्रिशूल आठवें दिक्पाल ईशान के तांत्रिक चरित्र को व्यक्त करता है। वह वास्तव में इस बात को स्पष्ट कर देता है कि बौद्ध और जैन धर्मों में रत्नत्रय को प्रकट करने के लिए प्राचीन काल में – संभवतः कुशाणकाल से – जिस त्रिशूल की मान्यता चली आती है, वह जैनियों की धार्मिक अतत्कला में एक मौलिक तथ्य को लिये हुए है। इस सम्बन्ध में मथुरा कंकाली टीले से प्राप्त उस जिनमूर्ति को देखना आवश्यक होगा, जिसके पदस्थल के अग्र-भाग में उघाड़े हुए त्रिशूल पर रक्खे हुए धर्मचक्र की साधुजन पूजा कर रहे हैं। यह शैली बौद्धकला की उस प्राचीन शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है, जिसमें स्वयं भगवान् बुद्ध का प्रतिनिधित्व करने के लिए धर्मचक्र का प्रयोग हुआ है। निःसन्देह वूल्हर के शब्दों में कह सकते हैं कि जैनियों की प्राचीन कला और बौद्धकला में विशेष अन्तर नहीं है। असली बात यह है कि कला ने कभी साम्प्रदायिक रूप धारण नहीं किया। दोनों ही धर्मों ने अपनी-अपनी कलाकृतियों में एक ही प्रकार के आभूषणों, प्रतीकों तथा भावनाओं का प्रयोग किया है। अन्तर केवल गौण बातों में है। जैन परम्परा में रत्नत्रय का प्रतीक सिद्ध व जीवन्मुक्त पुरुषों के तीन मुख्य गुणों – दर्शन, ज्ञान, चारित्र – को प्रकट करता है। बौद्ध परम्परा में यह त्रिशूल बुद्ध, धर्म और संघ, इन तीन तथ्यों का द्योतक है। यही भाव बौद्ध परम्परा में कभी-कभी त्रिकोणाकार रूप से, 'बील' के कथनानुसार, तथागत के शारीरिक रूप को व्यक्त करता है, और कभी-कभी त्रि-अक्षरात्मक शब्द 'ओम्' से व्यक्त किया गया है। ब्राह्मण परम्परा में यह त्रिशूल ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इस त्रिमूर्ति का द्योतक है। बौद्ध रत्नत्रय के विभिन्न प्रतीक तक्षशिला के बौद्ध क्षेत्रों से, तथा कुशाणकाल के प्राचीन समय से मिलते हैं।

धर्मचक्र

मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त उक्त मूर्ति का अध्ययन हमें यह मानने को विवश करता है कि इस पर उत्कीर्ण चक्र उस धर्म-भावना का प्रतीक है जो प्राचीन तथा मध्यकालीन बौद्धधर्म में मान्य रही है। वैष्णव-कला में चक्र का प्रतीक स्वयं भगवान् विष्णु से घनिष्ठतया सम्बन्धित है। ईसा पूर्व की सातवीं सदी के चक्राङ्कित पुराने ठप्पे के (Punch-marked) सिक्के इस परम्परा की प्राचीनता सिद्ध करने में स्वयं स्पष्ट प्रमाण हैं। रत्नत्रय की भावना से सम्बन्धित

चक्र जैनकला की ही विशेषता नहीं हैं अपितु इस प्रकार के चक्र कुशाणयुग की तक्षशिला कला में भी पाये जाते हैं, जो निस्सन्देह बौद्धकला है। वहां यह चक्र त्रिशूल के साथ सांकेतिक ढंग से दिखाया गया है। वहां यह चक्र जो त्रिरत्न के प्रतीक त्रिशूल पर टिका है और जिसके दोनों पार्श्वों में एक-एक मृग उपस्थित है और जो भगवान् बुद्ध के कर द्वारा स्पर्शित हो रहा है, भगवान् बुद्ध द्वारा मृगदावन में की गई प्रथम धर्म-प्रवर्तना को चित्रित करता है। उत्तरोत्तर काल में सम्भवतः ये प्रतीक साम्प्रदायिकता की संकीर्ण सीमाओं से बाहर निकल गये हैं। क्योंकि जैन लेखक ठक्कुर फेरु लिखते हैं कि चक्रेश्वरी देवी का परिकर उस समय तक पूरा नहीं होता, जब तक कि उसके पदस्थल पर दायें-बायें मृगों से सजा हुआ धर्मचक्र अङ्कित नहीं किया जाता। यहां वह चक्ररत्न भी विचारणीय है, जो जैन परम्परा में चक्रवर्ती का प्रतीक व आयुध कहा गया है। जैन कला में चक्र का प्रदर्शन ईस्वी सन् की कई प्रथम सदियों से ही हुआ मिलता है। मथुरा के कंकाली टीले से कुशाणकाल के जो आयागपट्ट अर्थात् प्रतिज्ञापूर्त्यर्थ समर्पण किये हुए पट्ट निकले हैं, उनमें उस केन्द्रीय चतुर्भुजी भाग के दोनों चक्र जिसके मध्यवर्ती दायरे में ध्यानस्थ जिन भगवान् की मूर्ति अङ्कित है और उसको छूते हुए सजावटी ढंग से चार कोणों में श्रीवत्स और चार दिशाओं में त्रिशूल के चिह्न वने हैं, दोनों ओर स्तम्भ खड़े हुए हैं, उनमें से एक पर चक्र और दूसरे पर हस्ती अङ्कित है। इसी क्षेत्र के एक और आयागपट्ट (नं. ज. 248 मथुरा संग्रहालय) में चक्र केन्द्रीय वस्तु के रूप में अंकित है, जो चारों ओर अनेक सजावटी वस्तुओं से घिरा है। यह सुदर्शन धर्मचक्र की मूर्ति है। इस चक्र में – जो तीन समकेन्द्रीय घेरों से घिरा हुआ है – 16 आरे लगे हुए हैं। इसके प्रथम घेरे में 16 नन्दिपद चिह्न वने हैं। यह पट्ट भी कुशाणकालीन है। राजगिरि की वैभारगिरि से गुप्तकालीन जो तीर्थंकर नेमिनाथ की अद्वितीय मूर्ति मिली है, उसके पदस्थल पर दायें-वायें शंख चिह्नों से घिरा धर्म-चक्र बना हुआ है। इसमें चक्र के साथ एक मानवी आकृति को जोड़ कर चक्र को चक्रपुरुप का रूप दिया गया है। यह सम्भवतः ब्राह्मणिक प्रभाव की उपज है, वहां वैष्णवी कला में गदा, देवी और चक्रपुरुष रूप में आयुधों को पुरुषाकार दिया गया है।

टिप्पणियां :

1. अंग्रेजी शब्द 'aniconic' का हिन्दी पर्याय ('प्रतिमा-विहीन') वैज्ञानिक तथा तकनीकी आयोग (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली) द्वारा प्रकाशित 'वृहत् पारिभाषिक शब्द-संग्रह : मानविकी खण्ड', भाग 1 (1973), पृ० 62 के आधार पर दिया गया है। सम्पादक

2. लेखक/अनुवादक द्वारा 'अतत्-प्रतीक' इन शब्दों के माध्यम से जो भाव अभिव्यक्त किया

गया है, उसी भाव को जैन परम्परा 'असद्भाव स्थापना', अथवा 'अतदाकार स्थापना' शब्दों द्वारा प्राचीन काल से ही व्यक्त करती आई है। देखिये :

(क) आचार्य विद्यानन्दिकृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अ० 1, सू० 5, वार्तिक 54;

(ख) आचार्य वीरसेनकृत धवलाटीका, पु० 13, पृ० 41-42;

(ग) तत्त्वार्थसूत्र : हिन्दी व्याख्या, पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; भा० दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, तृ० सं०, 1999, पृ० 4। सम्पादक

3. लेखक की यह धारणा सम्भवतः किसी भ्रमवश बन गई है। अन्यथा, उक्त मान्यता से जैनदर्शन का कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में यह वैदिक धर्म की मान्यता है। – अनुवादक

जैन परम्परा और अयोध्या*

– डॉ० मोहन चन्द तिवारी

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं का महनीय योगदान रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनों परम्पराओं का साम्प्रदायिक रूप से विभाजन किस युग में हुआ, इसका निर्णय करना एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। परन्तु जहां तक अयोध्या के प्राचीन इतिहास का प्रश्न है, जैन आगमों में अयोध्या के पर्यायवाची नाम 'विनीता' और 'इक्ष्वाकुभूमि' (इक्खागु भूमि) भी दिए गए हैं।[1] दोनों परम्पराएं यह मानती हैं कि इक्ष्वाकुवंश के राजाओं ने सर्वप्रथम यहां राज्य किया था। वैदिक परम्परा के अनुसार मनु वैवस्वत के पुत्र 'इक्ष्वाकु' से सूर्यवंशी ऐक्ष्वाक वंशावली का प्रारम्भ हुआ[2] तो जैन परम्परा के अनुसार आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने, जो इक्ष्वाकु भी कहलाते थे, सर्वप्रथम 'इक्ष्वाकुभूमि' (अयोध्या) में राज्य किया।[3] इनसे पूर्व न राजा था और न राज्य। भगवान् ऋषभदेव ने ही सर्वप्रथम समाज को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से असि-मसि-कृषि की शिक्षा दी तथा शिल्प आदि विविध कलाओं का उपदेश दिया। जैन पुराणों के अनुसार ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अर्थशास्त्र व नृत्यशास्त्र, वृषभसेन को गान्धर्व विद्या, अनन्त विजय को चित्रकला, वास्तुकला और आयुर्वेद तथा बाहुबली को धनुर्वेद, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र आदि की शिक्षा दी। उन्होंने अपनी पुत्रियों को लिपिशास्त्र, अंकगणित आदि विद्याओं का उपदेश दिया।[4]

1. जैन परम्परा : ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

जैन धर्म के प्रसिद्ध आचार्य, मुनि सुशील कुमार जी के अनुसार भगवान् महावीर से पूर्व जैनधर्म का इतिहास 'आदियुग' के नाम से जाना जाता है क्योंकि इस युग का प्रारम्भ आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव से हुआ था जो मानव सभ्यता के

---

* लेखक की हाल में प्रकाशित पुस्तक 'अष्टाचक्रा अयोध्याः इतिहास और परम्परा' (उत्तरायण प्रकाशन, दिल्ली, 2006) के अध्याय 9 पर आधारित।

आदि प्रणेता भी थे। इस सम्बन्ध में आचार्यश्री कहते हैं: ''इतिहास ऋषभदेव के विषय में मौन है क्योंकि इतिहास की किरणें काल्पनिक और यथार्थ सम्मिलित रूप से अधिक से अधिक 24,000 वर्षों तक पहुंच पाई हैं। उससे आगे चलने में वह सर्वथा असमर्थ है। तत्कालीन संस्कृति और अवस्था का अवगाहन स्वल्पतम सामग्री के आधार पर ही करना पड़ता है। हमें आदिनाथ को समझने के लिए जैन सूत्र, वेद, पुराण और स्मृतियों का आश्रय लेना ही पड़ेगा।''[5]

आचार्य देवेन्द्र मुनि का मत है कि ''ऋषभदेव का महत्त्व केवल श्रमण परम्परा में ही नहीं, अपितु ब्राह्मण परम्परा में भी रहा है। परन्तु अधिकांश जैन यही समझते हैं कि ऋषभदेव मात्र जैनों के ही उपास्य देव हैं तथा अनेकों जैनेतर विद्वद् वर्ग भी ऋषभदेव को जैन उपासना तक ही सीमित मानते हैं। जैन व जैनेतर दोनों वर्गों की यह भूल भरी धारणा है क्योंकि अनेकों वैदिक प्रमाण भगवान् ऋषभदेव को आराध्यदेव के रूप में प्रस्तुत करने के लिए विद्यमान् हैं।''[6] जैन धर्म के इन प्रसिद्ध धर्माचार्यों के मन्तव्यों से यह स्पष्ट है कि वैदिक परम्परा ही नहीं, जैन परम्परा के अनुसार भी 'अयोध्या' आदिकालीन मानव सभ्यता की व्यवस्थापक नगरी थी। वेदों और पुराणों में इसी ऐतिहासिक नगरी का गौरवशाली वर्णन आया है।

1.1 जैन 'कुलकर' तथा वैदिक 'मन्वन्तर' परम्परा

वैदिक परम्परा के अनुसार अयोध्या का निर्माण सर्वप्रथम मनु महाराज ने किया था। जैन परम्परा भी यह मानती है कि अयोध्या के निर्माण के बाद पन्द्रहवें मनु भगवान् ऋषभदेव ने अयोध्या में शासन करते हुए मानव मात्र को सभ्यता तथा संस्कृति के सूत्रों में बांधा था।[7] दोनों परम्पराओं का पौराणिक इतिहास बताता है कि मनुओं द्वारा संचालित कुलकर संस्था ने ही आदि मानव को समाज में रहना सिखाया तथा आदिम अवस्था से उसे राज्य संस्था के युग तक पहुंचाया। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री प्रागैतिहासिक जैन कुलकर संस्था की वैदिक मन्वन्तर व्यवस्था से तुलना करते हुए कहते हैं : ''आदिपुराण की कुलकर संस्था वैदिक वाङ्मय में मन्वन्तर संस्था के नाम से प्रसिद्ध है। समाज के स्वरूप विकास में मन्वन्तर भी कुलकर के समान महत्त्वपूर्ण हैं। जिस प्रकार कुलकर चौदह होते हैं, उसी प्रकार मन्वन्तर भी चौदह माने गए हैं।''[8]

वस्तुतः वैदिक एवं जैन पुराणों द्वारा प्रतिपादित मन्वन्तर परम्परा अथवा कुलकर परम्परा प्रागैतिहासिक पूर्वापर कालनिरूपण की भारतीय इतिहासदृष्टि है। स्वायम्भुव मनु नामक प्रथम मन्वन्तर से पौराणिकों के अनुसार मानवीय राजाओं का इतिहास प्रारम्भ हो जाता है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार प्रथम मनु के दो पुत्र थे, प्रियव्रत और उत्तानपाद। उत्तानपाद के दो पुत्र हुए, उत्तम और ध्रुव। ध्रुव से शिष्टि और भव्य का जन्म हुआ। भव्य से शम्भू, और शिष्टि से रिपु आदि छह पुत्र हुए जिनमें रिपु का पुत्र चाक्षुष था। चाक्षुष से मनु हुए और मनु के कुरु, पुरु आदि दस पुत्र हुए। कुरु के अङ्ग आदि छह पुत्र थे। अङ्ग की स्त्री सुनीथा से वेन नामक पुत्र हुआ। वेन आत्मदम्भी और निरंकुश प्रजापति था। क्रोधवश ऋषियों ने वेन को मार दिया तथा उसके दाहिने हाथ से 'पृथु' को उत्पन्न किया।[9] पुराणों के अनुसार राजा 'पृथु' विष्णु का अवतार था इसलिए ऋषि-मुनियों ने वेनपुत्र 'पृथु' का विधिवत् राज्याभिषेक किया। इस प्रकार वैदिक पुराणों के अनुसार राजा पृथु से राज्य संस्था का विधिवत् इतिहास प्रारम्भ होता है। पृथु से पहले पृथिवी में पुर, ग्राम आदि का विभाजन नहीं था। पृथु ने भूमि को समतल बनाया, उसमें ग्रामों और नगरों की स्थापना की और लोगों के जीवन निर्वाह हेतु कृषि, गोपालन, व्यापार आदि की व्यवस्था की।[10] ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जैन पौराणिक परम्परा ने आदि समाजव्यवस्था के प्रवर्तन का जो श्रेय आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव को दिया है वैदिक परम्परा में वही श्रेय भगवान् विष्णु के अवतार राजा पृथु को दिया जाता है। पृथुवैन्य का सम्बन्ध उत्तानपाद शाखा से है किन्तु ऋषभदेव का सम्बन्ध प्रियव्रत शाखा से है।

'विष्णुपुराण' के अनुसार स्वायम्भुव मनु के ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत का विवाह प्रजापति कर्दम की पुत्री से हुआ था, जिससे सम्राट् और कुक्षि नाम की दो कन्याएं और आग्नीध्र, अग्निबाहु, वपुष्मान्, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, मेधा, मेधातिथि, भव्य, सवन और पुत्र नाम के दस पुत्र हुए। इनमें से मेधा, अग्निबाहु और पुत्र - ये तीन पुत्र योगपरायण होने से विरक्तभाव हो गए । उन्हें राज्य में किसी प्रकार की रुचि नहीं थी। राजा प्रियव्रत ने अपने शेष सात पुत्रों को सात द्वीपों का राज्य इस प्रकार से बांट दिया - आग्नीध्र को जम्बूद्वीप, मेधातिथि को प्लक्षद्वीप, वपुष्मान् को शाल्मलद्वीप, ज्योतिष्मान् को कुशद्वीप, द्युतिमान् को क्रौञ्चद्वीप, भव्य को शाकद्वीप और सवन को पुष्करद्वीप।[11]

आज जम्बूद्वीप की भौगोलिक पहचान भारतवर्ष सहित दक्षिण पूर्व एशिया के भूगोल से की जाती है। आग्नीध्र इसी जम्बूद्वीप का शासक था। आग्नीध्र के नौ पुत्र हुए - नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्य, हिरण्वान्, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। आग्नीध्र ने अपने ज्येष्ठ पुत्र नाभि को दक्षिण की ओर स्थित 'हिमवर्ष' का राज्य दिया जो बाद में नाभि के पौत्र भरत के नाम पर 'भारतवर्ष' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[12] नाभिपुत्र ऋषभ ने दीर्घकाल तक धर्मपूर्वक शासन करते हुए विविध प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान किया और उसके बाद भरत को राज्य सौंपकर स्वयं तपस्या के लिए चले गए।[13] 'विष्णुपुराण' में 'जम्बूद्वीप' और उसमें स्थित 'भारतवर्ष' का यज्ञदेश के रूप में विशेष महामण्डन किया गया है। इस पुराण के अनुसार 'जम्बूद्वीप' में यज्ञमय यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु का सदा यज्ञों द्वारा भजन किया जाता है जबकि अन्य द्वीपों में उनकी अन्य प्रकारों से उपासना होती है।[14] 'भारतवर्ष' जम्बूद्वीप का सर्वश्रेष्ठ देश माना गया है क्योंकि यह कर्मभूमि है, अन्य देश भोगभूमियां हैं।[15] स्वर्ग के देवता भी इस भारत देश में जन्म लेने वाले लोगों से ईर्ष्या रखते हुए निरन्तर यही गीत गाते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत 'भारतवर्ष' में जन्म लिया है वे लोग हम देवताओं की अपेक्षा भी अधिक धन्य हैं। जो लोग इस कर्मभूमि में जन्म लेकर अपने फलाकाङ्क्षा से रहित कर्मों को परमात्मस्वरूप श्री विष्णु भगवान् को अर्पण करने से निर्मल होकर अनन्त में लीन हो जाते हैं, वे धन्य हैं -

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरस्त्वात्॥
कर्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति॥[16]

आग्नीध्र ने अपने प्रजापति के समान अन्य आठ पुत्रों में से किम्पुरुष को 'हेमकूट' (कैलास हिमालय) का, हरिवर्ष को 'नैषध' का, इलावृत को 'इलावर्तवर्ष' (मध्य मेरु) का, रम्य को 'नीलाचलवर्ष' का, हिरण्वान् को 'श्वेतवर्ष' का, कुरु को श्रृङ्गवान् पर्वत के उत्तर की ओर स्थित 'कुरुवर्ष' का, भद्राश्व को मेरुपूर्व 'भद्राश्ववर्ष' का और केतुमाल को 'गन्धमादनवर्ष' का राज्य सौंपा।[17]

'हिमवर्ष' अर्थात् 'भारतवर्ष' के राजा नाभि और उनकी पत्नी मेरुदेवी से ऋषभ नामक पुत्र का जन्म हुआ।[18] 'भागवतपुराण' के अनुसार ऋषभ की पत्नी का नाम जयन्ती था, जिससे सौ पुत्र हुए और उनमें भरत ज्येष्ठ था।[19] उन सौ पुत्रों

में से उन्नीस पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं - 1. भरत, 2. कुशावर्त, 3. इलावर्त, 4. ब्रह्मावर्त, 5. मलय, 6. केतु, 7. भद्रसेन, 8. इन्द्रस्पृक्, 9. विदर्भ, 10. कीकक, 11. कवि, 12. हरि, 13. अन्तरिक्ष, 14. प्रबुद्ध, 15. पिप्पलायन, 16. आविर्होत्र, 17. द्रुमिल, 18. चमस और 19. करभाजन।[20] 'भागवतपुराण' के अनुसार उपर्युक्त उन्नीस पुत्र भागवत परम्परानुसारी योग परम्परा में दीक्षित हो गए थे जबकि जयन्ती के 81 पुत्रों ने यज्ञशील ब्राह्मण धर्म को अपनाया था।[21]

1.2 जैन तथा वैदिक परम्परा में ऋषभपुत्र भरत का वृत्तान्त

वैदिक परम्परा से प्राप्त उपर्युक्त विवरणों की जैन पुराणों से तुलना करें तो दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव की पत्नियों का नाम यशस्वती और सुनन्दा था।[22] श्वेताम्बर परम्परा यशस्वती के स्थान पर सुमंगला नाम बताती है;[23] जबकि 'भागवतपुराण' के अनुसार ऋषभ की एक ही पत्नी जयन्ती से सौ पुत्रों का जन्म हुआ था।[24] जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र तथा सुन्दरी और ब्राह्मी नाम की दो पुत्रियां थीं। इनमें से भरत और बाहुबली नामक दो पुत्र विशेष रूप से विख्यात हुए थे।[25]

वैदिक पुराणों में ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता जबकि जैन पुराणों के अनुसार भरत बाहुबली का युद्धप्रसङ्ग एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना प्रतीत होती है।[26] पौराणिक जैन परम्परा के अनुसार भरत को चक्रवर्ती बनना था परन्तु उसके सौतेले भाई बाहुबली को भरत का आधिपत्य स्वीकार नहीं था। इसलिए दोनों भाइयों के मध्य भयंकर युद्ध हुआ। मुष्टियुद्ध में बाहुबली ने जब भरत पर प्रहार करने के लिए अपनी मुष्टि ऊपर उठाई तो इन्द्र के परामर्श पर अथवा विवेकज्ञान हो जाने के कारण बाहुबली को ऐसी आत्मग्लानि हुई कि उसने उस मुष्टि का प्रहार अपने ऊपर ही कर दिया जिससे बाहुबली का आत्मघात तो नहीं हुआ किन्तु अभिमानघात अवश्य हो गया। अन्ततोगत्वा बाहुबली ने जैन धर्म की दीक्षा धारण की और भरत चक्रवर्ती को निष्कण्टक राज्य प्राप्त हुआ।[27]

उधर वैदिक परम्परा के अनुसार ऋषभपुत्र भरत भागवत धर्म के परम अनुयायी हैं। 'विष्णुपुराण' के अनुसार राजा भरत अहिंसा आदि नियम-व्रतों का पालन करते हुए भगवान् वासुदेव में ही चित्त लगाकर शालग्राम क्षेत्र में रहा करते थे।[28] एक दिन उन्होंने नदी के तट पर हरिणी के गर्भपात की दुःखद घटना को देखा। हरिणी की मृत्यु हो जाने पर भरत ने ही हरिणी के शिशु का पालन पोषण किया। इस प्रकार भरत ममता के बन्धन में ऐसे जकड़ गए कि अगले जन्म में उन्हें पहले मृग, फिर ब्राह्मण परिवार में 'जड़ भरत' के रूप में जन्म लेना पड़ा।[29]

योगी भरत को अपने पूर्वजन्म का स्मरण था। इसलिए वे जानबूझकर सम्मान और स्वाभिमान से सर्वथा दूर रहकर पागलों की भांति जड़ की तरह आचरण करते थे।[30] असंस्कृत भाषण, मैले-कुचैले पहनावे और सबसे अपमानित होने के स्वभाव के कारण[31] वे 'जड़ भरत' के रूप में प्रसिद्ध हो गए।[32] इस प्रकार जैन पुराणों के भरत चक्रवर्ती और वैदिक पुराणों के 'जड़ भरत' में ऐतिहासिक समानता केवल इतनी है कि दोनों ऋषभपुत्र हैं परन्तु धार्मिक चरित्र दोनों का एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार जड़ भरत को महर्षि कपिल और सौवीरनरेश का समकालिक बताया गया है।[33]

आदिपुराणकार का कपिल मुनि द्वारा प्रवर्तित 'कापिल मत' के सम्बन्ध में दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उनके अनुसार भगवान् ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए तपस्वियों में अनेक तपस्वी भ्रष्ट हो गए थे।[34] उनमें से एक तपस्वी ऋषभदेव के नाती मरीचि कुमार भी थे। इन्होंने योगशास्त्र और कापिल मत (सांख्य दर्शन) जैसे मिथ्या शास्त्रों का उपदेश दिया था।[35] आदिपुराणकार के इस कथन की 'भागवतपुराण' के उस कथन के साथ यदि तुलना करें जहां यह कहा गया है कि ऋषभ के सौ पुत्रों में से 19 पुत्रों ने भागवत मत और 81 पुत्रों ने ब्राह्मण मत को अपनाया, तो एक ऐतिहासिक तथ्य यह उभर कर आता है कि भगवान् ऋषभदेव के युग तक वैदिक परम्परा तथा जैन परम्परा एक ही थी, उसका विभाजन नहीं हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के उपरान्त वैदिक परम्परा के अनुयायी यह मानने लगे कि ऋषभदेव के भरत आदि 19 पुत्रों ने जिस श्रमण परम्परा (संन्यास मार्ग) को अंगीकार किया, वह भागवत धर्म की परम्परा थी, भगवान् विष्णु इसके आराध्य थे तथा यज्ञ संस्कृति में इस परम्परा का दृढ़ विश्वास था। परन्तु जैनधर्म के आचार्यों ने ऋषभपुत्र भरत-बाहुबली को जैनानुमोदित श्रमण परम्परा का अनुयायी माना है।[36] सिद्धान्त रूप से यह श्रमण परम्परा विष्णु को आराध्य नहीं मानती, यज्ञों और वेदों के प्रति अनास्था भाव प्रकट करती है। इन दोनों परम्पराओं के पौराणिक मतभेदों से एक ऐतिहासिक तथ्य यह उभर कर आया है कि भगवान् ऋषभदेव तथा मरीचि आदि ऋषियों के मध्य कभी गम्भीर मतभेद उत्पन्न हुआ होगा। तभी से श्रमण परम्परा दो धाराओं में विभाजित हो गई होगी। 'आदिपुराण' जैन परम्परा के अनुसार कापिल मत को मिथ्या शास्त्र बताता है[37] जबकि 'विष्णुपुराण' में जड़ भरत के प्रसंग में कापिल मत के प्रणेता कपिल मुनि आराध्य ऋषि हैं। सौवीरनरेश भी इन्हीं के दर्शन करने जाते हैं।[38]

उधर 'विष्णुपुराण' में प्राप्त स्वायम्भुव मनु की प्रियव्रत शाखा तथा उत्तानपाद शाखा की वंशावलियों का यदि तुलनात्मक सर्वेक्षण किया जाए तो एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि प्रियव्रत शाखा में ऋषभपुत्र भरत का क्रम छठी पीढ़ी में

आता है।[39] दूसरी ओर उत्तानपाद की शाखा के अनुसार चाक्षुषपुत्र मनु सातवीं पीढ़ी के पुरुष हैं।[40] सम्भवत: यही वह समानान्तर काल रहा होगा जब प्रियव्रत शाखा के 'भरत' और उत्तानपाद शाखा के 'मनु' के इतिहासबोध को ही वैदिक पुराणों ने 'मनुर्भरत उच्यते' की अवधारणा के रूप में प्रचारित किया होगा और इसी इतिहासबोध के अनुसार 'भारतवर्ष' के नामकरण का भी औचित्य स्वीकार किया गया है। परन्तु इस सम्भावना को अनुमान मात्र ही कहा जा सकता है। उसका एक कारण यह है कि मन्वन्तरों के इतिहास से सम्बद्ध वंशावली ही अपूर्ण होने के साथ-साथ विवादास्पद भी है। दूसरे, जैन पुराणों और वैदिक पुराणों में कुलकरों अथवा मनुओं की संख्या चौदह अवश्य कही गई है किन्तु वंशानुक्रम के नाम दोनों परम्पराओं में भिन्न-भिन्न हैं। दोनों पौराणिक परम्पराओं में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत तक की ऐतिहासिक परम्परा में समानता तो है किन्तु भरत के बाद की ऐतिहासिक वंशावली में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है।[41] ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् ऋषभदेव के बाद दोनों परम्पराओं में धार्मिक तत्त्वमीमांसा को लेकर गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गया होगा। इस कारण से भरत चक्रवर्ती के बाद का इतिहास वैदिक पुराणों और जैन पुराणों में एक सा नहीं मिलता।

1.3 जैन तथा वैदिक परम्परा में ऋषभदेव

'भागवतपुराण' में उल्लेख आया है कि भगवान् विष्णु ने ही मेरुदेवी के गर्भ में ऋषभ के रूप में अवतार लिया और वातरशना मुनियों के लिए श्रमणधर्म को प्रकट किया -

वर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त, भगवान् परमर्षिभि: प्रसादितो नाभे: प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषिणामूर्ध्वमंथिनां शुक्लया तनु वाऽवततार।[42]

अर्थात् 'यज्ञ में महर्षियों द्वारा प्रसन्न किए जाने पर स्वयं भगवान् विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके अन्त:पुर में मेरुदेवी के गर्भ में आए। उन्होंने इस परम पवित्र शुक्ल शरीर के रूप में अवतार लेना उर्ध्वमंथी वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से स्वीकार किया था।'

पर विचारणीय यह भी है कि जैनधर्म के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० पद्मनाभ एस० जैनी ने 'भागवतपुराण' की उपर्युक्त मान्यता को जैन आगम परम्परा के विरुद्ध बताते हुए इसे वैष्णव मतानुयायियों द्वारा जैन धर्म के भागवतीकरण की चेष्टा बताया है। प्रो० जैनी का मत है कि 'भागवतपुराण' में जैनधर्मानुमोदित ऋषभदेव के चरित्र को आधार बनाकर ब्राह्मण धर्म का महामण्डन करते हुए वैष्णव अवतारवाद का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।[43] वस्तुत: प्रो० जैनी

ने उपर्युक्त मान्यता के सन्दर्भ में वातरशना मुनियों की श्रमण परम्परा पर भी एक नई बहस छेड़ दी है। उन्होंने भागवतपुराण के लेखक की इस दृष्टि से आलोचना भी की है कि उसने अपने समय के श्रमणों द्वारा पूज्य ऋषभदेव के जीवन चरित्र के साथ 'वातरशनमुनयः', 'श्रमण' और 'परमहंस' जैसी तीन शब्दावलियों का अनौचित्यपूर्ण प्रयोग करके बहुत बड़ी विसंगति को ही दर्शाया है।[44] वास्तव में प्रो० जैनी सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार नहीं करते कि वैदिक संहिताओं में निर्दिष्ट 'ऋषभ' शब्द किसी जैन तत्त्वनिष्ठा से जुड़ा शब्द है अथवा किसी व्यक्तिवाचक नाम का बोधक है। उनके मतानुसार वैदिक संहिताओं के किसी भी मंत्र में 'वातरशना मुनियों' से श्रमण शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका यह भी कथन है कि 'शतपथब्राह्मण' (14.7.1.22) तथा 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (4.3.22) में सबसे पहले 'श्रमण' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा 'परमहंस' का प्रयोग उससे भी बाद में होता है।[45] परन्तु प्रो० जैनी की इस मान्यता के विरुद्ध जैन धर्माचार्यों और जैन इतिहास तथा संस्कृति के विद्वानों की एक लोकप्रिय अवधारणा रही है कि ऋग्वेद के 'केशीसूक्त' में वर्णित 'वातरशना' मुनियों का उल्लेख जैन श्रमण परम्परा का ही उल्लेख है, जबकि प्रो० जैनी का तर्क है कि इस सूक्त में कहीं भी 'ऋषभदेव' का उल्लेख नहीं मिलता तथा 'वातरशना' मुनियों के रूप में जो सात मुनियों के नाम गिनाए गए हैं वे नाम भी जैन परम्परा में मेल नहीं खाते हैं। उन्होंने ऋग्वेद आदि संहिताओं में प्रयुक्त 'ऋषभ' शब्द के व्यक्तिवाचक प्रयोगों पर भी सन्देह प्रकट किया है।[46]

वैदिक साहित्य में 'ऋषभ' सम्बन्धी उल्लेखों के बारे में प्रो० पद्मनाभ जैनी की उपर्युक्त आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए इस तथ्य की गम्भीरता से जांच पड़ताल आवश्यक हो जाती है कि वैदिक ऋचाओं के 'ऋषभ' सम्बन्धी वर्णन वस्तुतः जैन परम्परा का अनुमोदन करते हैं या वैदिक परम्परा का। परन्तु इससे पहले उन विद्वानों के मत की समीक्षा भी कर लेनी चाहिए जो यह मानते आए हैं कि वैदिक संहिताओं में श्रमण परम्परा का उल्लेख हुआ है।

आचार्य देवेन्द्र मुनि तथा जैन धर्म के अनेक विद्वानों की यह आम धारणा है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के 'केशी सूक्त' में जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव और 'वातरशना' जैन श्रमण मुनियों की स्तुति की गई है।[47] परन्तु इस सूक्त के भाष्यकार सायण का स्पष्ट कथन है कि केशस्थानीय रश्मियों के धारक होने के कारण 'केशी' अग्नि, वायु और सूर्य को कहते हैं - 'केशाः केशस्थानीया रश्मयः। तद्वन्तः केशिनोऽग्निर्वायुः सूर्यश्च।'[48] आचार्य देवेन्द्र मुनि जी को सायण की यह व्याख्या स्वीकार्य नहीं क्योंकि भगवान् के केश-लोंच की घटना के कारण 'केशी' की अवधारणा का इस सूक्त में कोई औचित्य सिद्ध नहीं

होता।[49] इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण सूक्त के किसी भी मन्त्र में 'ऋषभ' शब्द का नामोल्लेख भी नहीं मिलता। डॉ० हीरालाल जैन का मत है कि इस सूक्त की दूसरी ऋचा में 'मुनयो वातरशना:' के रूप में 'दिग्वासस्' दिगम्बर मुनियों का वर्णन है जो पीतवर्ण और मलधारी हैं, वायु के समान स्वच्छन्द विहार करते हैं तथा देवरूप हो गए हैं[50] -

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥[51]

ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस सूक्त के मंत्रद्रष्टा सात ऋषियों को ही 'वातरशना' संज्ञा दी गई है जिनके नाम हैं - 1. जूति, 2. वातजूति, 3. विप्रजूति, 4. वृषाणक, 5. करिक्रत, 6. एतश और 7. ऋष्यशृङ्ग।[52] सायण ने भी इन्हीं ऋषियों की 'वातरशना' संज्ञा स्वीकार की है और स्पष्ट किया है कि ये ऋषिगण अलौकिक ज्ञान के ज्ञाता हैं और इन्होंने केसरिया रंग के मलिन वल्कल वस्त्रों को धारण कर रखा है।[53] 'केशीसूक्त' की अन्तिम ऋचा में डॉ० हीरालाल जैन के मतानुसार केशी और रुद्र का एक साथ जल पीने का वर्णन आया है[54]

वायुरस्मा उपामन्थूत्पिनष्टि स्मा कुनंनमा।
केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिबत्सह॥[55]

ऋचा का अर्थ है : 'जिस समय केशी (सूर्य) रुद्र के साथ विष (जल) का पान करते हैं, उस समय वायु उन्हें प्रकम्पित कर देते हैं।' सायणाचार्य के अनुसार इस ऋचा में सूर्य के द्वारा रुद्रपुत्र मरुद्गणों (वायु के झोंकों) की सहायता से जल वाष्पीकरण की प्रक्रिया का वर्णन आया है।[56] इस प्रकार वैदिक भाष्यकारों की दृष्टि से भी 'केशीसूक्त' में जैन परम्परा से सम्बन्धित किसी भी अवधारणा या गतिविधि का उल्लेख नहीं मिलता। वैदिक देवता सूर्य, अग्नि तथा वायु के रूप में 'केशी' की स्तुति विशुद्ध वैदिक परम्परा के अनुकूल है।

ऋग्वेद में दसवें मण्डल के 166वें सूक्त के मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'ऋषभ वैराज' अथवा 'ऋषभ शाक्वर' के रूप में प्रसिद्ध हैं। ऋषभ के साथ पुत्रार्थक 'वैराज' अथवा 'शाक्वर' पदों के संयुक्त होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि या तो 'विराज' के पुत्र थे अथवा 'शक्वर' के। भाष्यकार सायण ने भी इन्हीं नामों से ऋषभ के ऋषित्व को प्रमाणित किया है - 'वैराजस्य शाक्वरस्य वर्षभाख्यस्यार्षम्।'[57] ऋषभ के इस परिचयात्मक विवरण के आधार पर जैनधर्म के आदि तीर्थङ्कर के साथ वैदिक 'ऋषभ वैराज' को जोड़ना युक्तिसंगत नहीं। वैसे भी इस सूक्त के देवता 'सपत्नहन्ता' इन्द्र हैं तथा महर्षि ऋषभ शत्रुहन्ता इन्द्रदेव से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे उनके विरोधियों का पराभव कर

दें जो एक ही कुल में उत्पन्न होने के बाद अनिष्ट आचरण कर रहे हैं।[58] थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि ये ऋषभ जैनधर्म के आराध्य ऋषभदेव ही हैं तो भी एक तीर्थङ्कर के लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे अपने सेवक तुल्य इन्द्र के समक्ष याचना के स्वर प्रकट करेंगे? किन्तु वैदिक ऋषि के लिए यह सम्भव है। वैदिक देवशास्त्र के अनुसार इन्द्र सर्वाधिक पराक्रमी देवता हैं। सभी ऋषि-मुनियों की शत्रुओं से रक्षा करने का दायित्व इन्द्रदेव का ही है। इस सूक्त की अन्तिम ऋचा ऋषभ के दम्भ को प्रकट करती है। इसमें कहा गया है कि ऋषभ ने 'योगक्षेम' को प्राप्त करके स्वयं को सर्वश्रेष्ठ बना लिया है इसलिए उसके विरोधी जल में रहने वाले मेंढक की भांति उसके पैरों के नीचे पड़कर चीत्कार करते रहेंगे -

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव।।[59]

प्रो० जैनी के मतानुसार 'ऋषभ वैराज' भले ही जैन श्रमण परम्परा की दृष्टि से अप्रासङ्गिक हों किन्तु वैदिक श्रमण धारा के परिप्रेक्ष्य में वैष्णव धर्म के इतिहास के साथ इनके ऐतिहासिक सूत्र जुड़ते हैं। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' के अनुसार 'विराट्' या 'विराज' आदिस्रष्टा (भगवान् विष्णु) के पुत्र हैं जिनसे सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि हुई।[60] 'विष्णुपुराण' के अनुसार यही सृष्टिनिर्माण और पालन का कार्य वराहावतार में भगवान् विष्णु करते हैं जिन्होंने स्वयं को ही ब्रह्मा के रूप में प्रकट किया।[61] रजोगुण की प्रधानता से इनका आविर्भाव हुआ था इसलिए इन्हें 'विराज' कहना सार्थक हो जाता है।[62] उधर महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार 'विरजा' प्रजापति विष्णु के ही मानसपुत्र थे तथा संन्यासमार्गी हो गए थे -

ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः ।
तैजसं वै विरजसं सोऽस्त्रजन्मानसं सुतम् ॥
विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत ।
न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ।।[63]

'विष्णुपुराण' के उल्लेखानुसार वाराहकल्प में विष्णु भगवान् ने ही पृथ्वी को जल से निकालकर समतल बनाया, उसमें सात द्वीपों का निर्माण किया और उसके बाद रजोगुण से युक्त होकर ब्रह्मा का रूप धारण किया।[64] ब्रह्मा जी ने प्रजापालन के लिए प्रजापति के रूप में सर्वप्रथम स्वायम्भुव मनु को उत्पन्न किया जिन्होंने अपने साथ ही उत्पन्न शतरूपा नाम की स्त्री को पत्नी के रूप में ग्रहण किया।[65] स्वायम्भुव मनु और शतरूपा से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्रों

का जन्म हुआ। वैदिक पुराणों की मान्यता है कि इसी स्वायम्भुव मनु के वंश में उत्पन्न प्रियव्रत की शाखा में नाभिपुत्र ऋषभ का जन्म हुआ था,[66] जिसकी पहचान विद्वान् जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के साथ करते हैं। परन्तु वैदिक परम्परा के साक्ष्यों से सिद्ध यह होता है कि ऋषभ विराज (ब्रह्मा) के पुत्र थे। इसी विराजपुत्र 'ऋषभ वैराज' का ऋग्वेद में मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में उल्लेख आया है।

महाभारत से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्रजापति विष्णु के इस मानसपुत्र ने संन्यासमार्ग को अपना कर श्रमण मुनियों की धर्मव्यवस्था स्थापित की थी।[67] महाभारत के अनुसार विरजा के पुत्र का नाम 'कीर्तिमान्' था। वह भी मोक्षमार्ग का ही अनुयायी बना।[68] महाभारत के इस वर्णन से इतना तो स्पष्ट ही है कि भगवान् विष्णु के मानसपुत्र विरजा और उसके पुत्र कीर्तिमान् ने वैदिक श्रमण परम्परा (तपस्या मार्ग) का प्रवर्तन किया था। सम्भावना यह भी प्रतीत होती है कि 'ऋषभ वैराज' का एक अन्य नाम 'कीर्तिमान्' भी रहा होगा किन्तु इस सम्भावना की ऐतिहासिक रूप से पुष्टि करना असम्भव प्रतीत होता है क्योंकि स्वायम्भुव वंशावली स्वयं में अपूर्ण है; पर इतना तो निश्चित है कि वैदिक परम्परा में 'ऋषभ वैराज' संन्यास मार्ग (श्रमण परम्परा) के सिद्ध योगी थे। ऋग्वेद के साक्ष्य बताते हैं कि इन्होंने 'योगक्षेम' की सिद्धि अर्जित कर ली थी जिसके कारण इनके पूर्व विरोधी भी इनकी पाद सेवा के साथ-साथ जय-जयकार भी करने लगे थे, जैसा कि अन्तिम ऋचा से ध्वनित होता है।[69] पर जैनधर्म के धरातल पर 'ऋषभ वैराज' की पहचान नाभिपुत्र 'ऋषभ' से करने में स्वायम्भुव मनु की वंशावली बाधक है। वैदिक तथा महाभारत की इतिहास-परम्परा के अनुसार ब्रह्मा के मानसपुत्र स्वायम्भुव मनु के साथ जैनों के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की अभिन्नता अथवा समकालिकता सिद्ध होनी आवश्यक है। परन्तु वैदिक पुराणों ने नाभिपुत्र ऋषभदेव को स्वायम्भुव मनु की पांचवी पीढ़ी में स्थान दिया है। उधर जैनाचार्य जिनसेन भी वैदिक परम्परानुमोदित 'ऋषभ वैराज' से पूर्णतः अवगत प्रतीत होते हैं इसलिए उन्होंने भगवान् ऋषभदेव के पर्यायवाची नामों में विरजा,[70] नाभिज,[71] नाभेय,[72] ब्रह्मसम्भव,[73] ब्रह्मात्मन्,[74] स्वयंभू[75] आदि का नामोल्लेख करते हुए एक ओर जहां वैदिक श्रमण परम्परा के साथ समरसतापूर्ण संवाद स्थापित किया, वहीं दूसरी ओर ध्वन्यात्मक शैली में यह संकेत भी करना चाहा कि वैदिक परम्परा में जो स्थान सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का है वही स्थान जैन परम्परा में आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का है। ऐक्ष्वाक वंशपरम्परा का साझा पूर्व इतिहास भी इसे प्रामाणिकता प्रदान करता है।

1.4 वैदिक संहिताओं में 'ऋषभ'

ऋग्वेद में तीन सूक्त ऐसे भी हैं जिनके मंत्रद्रष्टा ऋषि 'ऋषभ वैश्वामित्र' हैं। इन तीन सूक्तों में से ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का 13वां और 14वां सूक्त अग्नि देवता का है तो नौवें मण्डल का 71वां सूक्त पवमान सोम को सम्बोधित किया गया है। प्रो० पद्मनाभ जैनी 'ऋषभ वैश्वामित्र' के इन सूक्तों को श्रमण परम्परा से जोड़ने के पक्ष में नहीं हैं।[76] 'ऋषभ वैश्वामित्र' गायत्री मंत्र के द्रष्टा ऋषि रहे हैं। सप्तर्षिमण्डल के गणमान्य ऋषि विश्वामित्र के पुत्र होने के कारण इनके नाम के आगे 'वैश्वामित्र' पद संयुक्त हुआ है। आचार्य सायण ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है - 'तथा चानुक्रान्तम् प्र वः ऋषभस्त्वानुष्टुभम्' इति। विश्वामित्रपुत्र ऋषभ ऋषिः।'[77] ऐतरेयब्राह्मण में ऋषभ के विश्वामित्र पुत्र होने का उल्लेख मिलता है - 'ततो विश्वामित्र इतरान् पुत्रानाहूय गाध-यैवमाज्ञापितवान् - यो मधुच्छन्दानाम यश्चर्षभः योऽपि रेणुः।'[78] वहां विश्वामित्र के सौ पुत्रों का उल्लेख मिलता है।[79] ऋग्वेद में ही विश्वामित्र के मधुच्छन्दा (1.1), कत (3.17.18), प्रजापति (3.18, 3.54.56), अष्टक (10.104), रेणु (9.70) आदि पुत्रों के सूक्तों का उल्लेख आया है।

अग्नि को सम्बोधित तृतीय मण्डल के सूक्तों में 'ऋषभ वैश्वामित्र' ने मानवीय यज्ञ में हव्यादि ग्रहण करने के लिए अग्नि देवता का आह्वान किया है।[80] चमकीले रथ, सहस पुत्र और देदीप्यमान केश आदि विशेषणों द्वारा अग्नि की स्तुति की गई है।[81] नौवें मण्डल में पवमान सोम को समर्पित सूक्त में भी मंत्रद्रष्टा ऋषभ यज्ञपात्र में हाथों द्वारा पत्थर से कूटे हुए सोमरस को स्थापित करने का वर्णन करते हैं और यह भी कहते हैं कि इस सोमरस से तृप्त होकर इन्द्र शत्रुओं के नगरों को ध्वस्त करते हैं।[82] संक्षेप में 'ऋषभ वैश्वामित्र' के सूक्तों की देवस्तुति अन्य वैदिक देवों की स्तुतियों के समान ही है। श्रमण परम्परा का कोई लक्षण इन मन्त्रों में नहीं दिखाई देता है।

यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति में वृषभ (पशु) का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था कि उसे 'वृषभं यज्ञियानाम्' के रूप में महामण्डित किया जाता था।[83] ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता में जो वृषभाङ्कित मुद्राएं मिली हैं वे वैदिक धर्म में वृषभ पशु के राष्ट्रीय महत्त्व का पुरातात्त्विक प्रमाण हैं। वैदिक संहिताओं में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सिन्धु प्रदेश वैदिक काल में एक अतिपुण्यशाली यज्ञक्षेत्र था। कक्षीवान् दैर्घतमस ऋषि ने जब सिन्धु नदी के किनारे राजा भावयव्य के लिए यज्ञों का अनुष्ठान किया तो उसे सौ स्वर्ण मुद्राएं, सौ घोड़े और सौ वृषभ (बैल) भी दान स्वरूप मिले थे।[84] उधर अथर्ववेद में सिन्धु प्रदेश की विजय यात्राओं को करते हुए अयोध्या के ऐक्ष्वाक राजा 'सिन्धुद्वीप' द्वारा जल

प्रवाहों के द्वारा शत्रु पर आक्रमण करने का जो उल्लेख मिलता है उसमें वृषभ (बैल) की दिव्य अभिचार क्रियाओं के प्रयोग का भी वर्णन आया है जहां उसे देवों के लिए यजनीय (देवयजनः) माना गया है -

यो व आपोऽपां वृषभोप्स्वन्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि॥[85]

ऋग्वेद में गृत्समद ऋषि के रुद्र देवता सम्बन्धी सूक्त में 'वृषभ' शब्द का प्रयोग रुद्र के लिए हुआ है।[86] 'दुष्टुती वृषभ मा सहूती,'[87] 'प्रबभ्रवे वृषभाय,'[88] 'उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्,'[89] 'एवा बभ्रो वृषभ चेकितान'[90] आदि समस्त वैदिक प्रयोग 'रुद्र' के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि स्तोतागण रुद्र देवता के कोपभाजन होने से बचने के लिए तथा जीवन को सुखकारी बनाने के लिए यज्ञ में वृषभ (रुद्र) का आह्वान करते हैं -

एवा बभ्रो वृषभ चेकितान मथा देव न हृणीषे नहंसि।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥[91]

सिन्धु घाटी की सभ्यता के सन्दर्भ में कुछेक विद्वानों ने रुद्र को अनार्य देवता बताते हुए आर्य तथा द्रविड़ संस्कृति में विभेद पैदा करने का जो प्रयास किया है, ऋग्वेद का यह रुद्रसूक्त उस अवधारणा का खण्डन कर देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक संहिताओं में 'ऋषभ' अथवा 'वृषभ' शब्द जैन श्रमण परम्परा के आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का द्योतक नहीं है और न ही 'केशी' तथा 'वातरशना' मुनियों की ही जैन परम्परा के सन्दर्भ में संगति बिठाई जा सकती है। 'वृषभ' शब्द रुद्र के विशेषण के रूप में अवश्य प्रयुक्त हुआ है किन्तु वह भी वैदिक यज्ञों की पृष्ठभूमि में, न कि श्रमण परम्परा के सन्दर्भ में।

1.5 हिरण्यगर्भ और भगवान् ऋषभदेव

विद्वानों की एक धारणा यह भी है कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 'हिरण्यगर्भ सूक्त' में जैन तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की गई है।[92] सायणभाष्य के अनुसार इस सूक्त का देवता 'क' नामक प्रजापति है।[93] इस सूक्त के प्रथम मन्त्र के अनुसार आदिस्रष्टा हिरण्यगर्भ समस्त प्राणियों के एक मात्र अधिपति हैं। उन्होंने ही पृथिवीलोक तथा द्युलोक को धारण किया है। ऐसे देवाधिदेव प्रजापति हिरण्यगर्भ के लिए हवि को समर्पित करने का विधान किया गया है -

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[94]

वैदिक सृष्टिविज्ञान का वर्णन करते हुए 'हिरण्यगर्भ सूक्त' में 'आपः' अर्थात्

जल को सृष्टि का आदितत्त्व स्वीकार किया गया है परन्तु परमेश्वर अथवा ब्रह्म के बिना सृष्टि असम्भव है। इसी अपेक्षा से उसी जल तत्त्व से सृष्टि के नियन्ता 'हिरण्यगर्भ' का प्रादुर्भाव हुआ। उसी परम तत्त्व ने गर्भधारण करके महान् अग्नि, आकाशादि समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया। उसी से देवों में अद्वितीय प्राणशक्ति की उत्पत्ति हुई। ऐसे ही विशिष्ट लक्षणों से युक्त सृष्टि के परम तत्त्व 'हिरण्यगर्भ' का हवि द्वारा अर्चना करने का विधान किया गया है-

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[95]

'हिरण्यगर्भ सूक्त' में इसी सृष्टि के परम तत्त्व 'हिरण्यगर्भ' को प्रजापति कहकर सम्बोधित किया गया है, उसे भूत, वर्तमान और भविष्य का अधिष्ठाता बताया गया है तथा आराधक जन सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी बनने की अभिलाषा से अपने इस परम आराध्य देव को हविष्यान्न अर्पित करना चाहते हैं -

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥[96]

डॉ० गोकुल प्रसाद जैन 'हिरण्यगर्भ सूक्त' में वर्णित 'हिरण्यगर्भ' देव की पहचान आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव से करते हुए कहते हैं कि "ऋषभदेव जब मरुदेवी की कुक्षि में आए तो कुबेर ने नाभिराय का भवन हिरण्य की वृष्टि से भर दिया, अतः जन्म के पश्चात् वे 'हिरण्यगर्भ' के रूप में लोकविश्रुत हो गए।"[97] जैन पुराणलेखकों ने भी भगवान् ऋषभदेव के पर्यायवाची नामों में अनेक नाम ऐसे भी दिए हैं जो वैदिक परम्परा के अत्यन्त लोकप्रिय शब्द रहे हैं। 'हिरण्यगर्भ' भी वैसा ही एक पर्यायवाची नाम है। किन्तु इस नाम सादृश्य के कारण वैदिक 'हिरण्यगर्भ' के साथ आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का समीकरण अयुक्तिसंगत प्रतीत होता है। सर्वप्रथम तो दार्शनिक धरातल पर यह संगति युक्तिसंगत नहीं बैठती। वैदिक सृष्टिविज्ञान की दृष्टि से 'हिरण्यगर्भ सूक्त' में 'हिरण्यगर्भ' आदिस्रष्टा ईश्वर के तुल्य वर्णित हैं जबकि जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि के निर्माण में 'ईश्वर' का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है। इसलिए सृष्टि-उत्पादक 'हिरण्यगर्भ' की पहचान सृष्टि-व्यवस्थापक ऋषभदेव के साथ करना न्यायसंगत नहीं। दूसरा कारण यह भी है कि वैदिक 'हिरण्यगर्भ' सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होने वाले सर्वप्रथम देवाधिदेव हैं - 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'[98] जबकि जैनधर्म के अनुसार तीर्थङ्कर ऋषभदेव की एक ऐतिहासिक स्थिति सुनिश्चित है। पन्द्रहवें प्रजापति के रूप में इनका जन्म मरुदेवी के गर्भ से हुआ था। इस प्रकार वैदिक 'हिरण्यगर्भ' और तीर्थङ्कर ऋषभदेव की अभिन्नता को न

तो दार्शनिक धरातल पर सिद्ध किया जा सकता है और न ही ऐतिहासिक धरातल पर। वस्तुतः वैदिक देव हिरयण्गर्भ ही आस्तिक दर्शनों के युग में 'योग' के प्रवक्ता मान लिए गए।[99] पातंजल योगदर्शन का विकास भी हिरण्यगर्भ प्रोक्त 'हैरण्यगर्भशास्त्र' से हुआ।[100] महाभारत में भी योगदर्शन के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ की विशेष प्रशंसा की गई है पर एक वैदिक देव के रूप में, न कि जैन तीर्थङ्कर के रूप में -

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं सः च लोके विभुः स्मृतः॥[101]

वैदिक कालीन उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 'भागवतपुराण' के पूर्वोक्त उस कथन का फलितार्थ ग्रहण करना चाहिए जहां इस तथ्य का उल्लेख आया है कि ऋषभ के उन्नीस पुत्रों ने श्रमण परम्परा का अनुसरण किया और शेष 81 पुत्र यज्ञप्रधान ब्राह्मणधर्म के अनुयायी ही बने रहे।[102] परन्तु प्रो० पद्मनाभ जैनी ने 'भागवतपुराण' की इस मान्यता को ब्राह्मणधर्म के महामण्डन से जोड़कर इस सम्भावना पर ही विराम लगा दिया है कि 'भागवतपुराण' द्वारा वर्णित ऋषभवृत्तान्त जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव का वास्तविक वृत्तान्त है।[103] प्रो० जैनी की इस मान्यता को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव के जीवनचरित को लेकर श्रमण परम्परा उनके जीवनकाल में ही दो भागों में विभाजित हो गई होगी; एक वैदिक श्रमणधारा जिसका उल्लेख समग्र वैदिक साहित्य और विभिन्न पुराणों में मिलता है, और दूसरी वह 'निग्रन्थ' जैन परम्परा जो 24 तीर्थङ्करों के धार्मिक इतिहास से अनुप्राणित है। इसे 'निर्ग्रन्थ' इसलिए कहा जाता होगा क्योंकि भगवान् महावीर से पूर्व यह मौखिक श्रुतज्ञान द्वारा ही अपनी धर्म-प्रभावना करती थी, परन्तु भगवान् महावीर के बाद ही सर्वप्रथम द्वादशाङ्ग वाणी के रूप में विधिवत् आगमों के ग्रथन की प्रक्रिया चली। डॉ० जगदीश चन्द्र जैन के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण की लगभग दो शताब्दियों के बाद आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में सर्वप्रथम 11 अंगों (आगमों) का संकलन किया गया। उस समय चतुर्दश पूर्वों के धारी केवल भद्रबाहु थे जो नेपाल चले गए थे। इस कारण स्थूलभद्र के द्वारा पूर्वों के कुछ सिद्धान्त जीवित रहे, शेष पूर्व धीरे धीरे नष्ट हो गए।[104] ये जैन आगम श्वेताम्बर परम्परा के द्वारा भगवान् महावीर के साक्षात् उपदेश के रूप में प्रमाण माने जाते हैं किन्तु दिगम्बर परम्परा इन आगमों को कालदोष से नष्ट हुआ मानकर प्रमाण नहीं मानती।[105] परन्तु जैन धर्माचार्य मुनि सुशील कुमार की इस सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा है कि भगवान् ऋषभदेव के जीवन चरित को समझने के लिए जैनसूत्रों

के अतिरिक्त वेद, पुराण और स्मृतियों का आश्रय अत्यावश्यक है। 'जैनधर्म का इतिहास' लिखते हुए मुनिश्री का कथन है कि ''यह अवश्य हमारा अहोभाग्य है कि भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अत्यन्त उदारता पूर्वक उल्लेख किया गया है। भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध में 'श्रीमद्भागवत' में खूब विस्तार पूर्वक लिखा गया है और उन्हें परमहंस धर्म तथा जैन धर्म का प्रवर्तक माना गया है।''[106]

1.6 ईसा-पूर्व छठी सदी : धार्मिक सुधारवादी शताब्दी

ऐतिहासिक दृष्टि से ईसा-पूर्व छठी सदी न केवल भारत में अपितु समूचे विश्व में धार्मिक आन्दोलनों को जन्म देने वाली महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है। भारत में वैदिक धर्म के पतन के बाद धार्मिक जगत् में जो शून्यता और अराजकता का दौर उत्पन्न हुआ, भगवान् महावीर तथा गौतम बुद्ध ने उसे क्रमश: जैन तथा बौद्ध धर्मों के सुधारवादी आन्दोलनों से एक नई दिशा की ओर प्रेरित किया। इसी समय ग्रीस में पाइथैगोरस और सुकरात तथा चीन में कन्फ्यूशस आदि विचारक भी अपने-अपने देशों की पुरातन मान्यताओं के विरुद्ध क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलनों को दिशा प्रदान कर रहे थे।

भारतवर्ष में छठी शताब्दी ई० पू० के धार्मिक आन्दोलनों को प्रभावित करने में केवल भगवान् महावीर अथवा गौतमबुद्ध का ही योगदान नहीं था बल्कि वेद विरोधी अन्य दार्शनिक विचारक जैसे मक्खलि गोशाल, पूरण कश्यप, अजित केशकम्बलि, प्रक्रुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्र आदि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।[107] वेद विरोधी इस श्रमण परम्परा से पूर्व वैदिक कालीन श्रमण परम्परा ने औपनिषदिक चिन्तन द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड और पौरोहित्यवाद के विरुद्ध अपना दार्शनिक स्वर मुखर कर दिया था। उदाहरण के लिए 'मुण्डकोपनिषद्' ने वैदिक कर्मकाण्डों की निन्दा करते हुए यह उद्घोषणा कर दी थी कि कर्मकाण्डों की जीर्णशीर्ण नौका पर बैठे अज्ञानी संसार सागर को तैरने में असमर्थ रहते हैं और उनका डूबना निश्चित है।[108] 'मुण्डकोपनिषद्' ने श्रौत तथा स्मार्त कर्मों को अन्धविश्वास की संज्ञा प्रदान की।[109] इसी प्रकार 'कठोपनिषद्' के 'नचिकेतोपाख्यान' में वैदिक पुरोहितवाद पर व्यङ्ग्य किया गया है[110] तो 'केनोपनिषद्' में भी अग्नि, वायु आदि देवताओं के प्रभुत्व पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है।[111]

वास्तव में वैदिक कर्मकाण्ड और शुष्क पौरोहित्यवाद के विरुद्ध छठी शताब्दी ई० पू० में जो वैचारिक आन्दोलन चला उसकी मुख्य रूप से दो धाराएं थी - वैदिक धारा तथा वेदेतर बौद्ध एवं जैन धारा जिन्हें 'श्रमणधारा' कहना इसलिए

भी प्रासंगिक है क्योंकि इनका वैचारिक चिन्तन तपश्चर्या से अनुप्राणित है। वैदिक श्रमणधारा का अस्तित्व वैसे तो वैदिक संहिताओं के काल में ही आ चुका था, किन्तु आरण्यकों तथा उपनिषदों के आविर्भाव के बाद वैदिक श्रमणधारा का विशेष पल्लवन हुआ तथा भागवत धर्म अथवा परमहंस धर्म इसी वैदिक श्रमणधारा का उत्तरवर्ती विकास है जिसकी एक झलक 'भागवतपुराण' आदि ग्रन्थों में भी देखने को मिलती है। विद्वानों के अनुसार 'श्रमण' शब्द जैन एवं बौद्ध विचारधाराओं के लिए प्रयुक्त होने वाला एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। डॉ० दामोदर शास्त्री के अनुसार संयम तथा योग साधना को प्रमुखता देने वाली अवैदिक विचार धारा के रूप में 'श्रमण' विचारधारा को मान्यता प्राप्त है।

यह श्रमण विचारधारा त्यागवादी, संयमप्रधान, अध्यात्मवादी, निर्वृत्तिमार्गी या निर्वृत्तिप्रधान विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्कृति है।[112]

वैदिक परम्परा में भी 'श्रम' शब्द तपस्या का पर्यायवाची है।[113] औपनिषदिक विचारधारा भी उसी अध्यात्मवादी, त्यागमूलक और निर्वृत्तिमार्गी विचारधारा का पोषण करती है परन्तु वह वेदमूलक होने के कारण 'श्रमण' विचारधारा के रूप में विख्यात नहीं हो सकी। यज्ञीय पशुहिंसा और शुष्क कर्मकाण्डों के विरुद्ध जब वेदेतर जैन एवं बौद्ध धर्मों की लोकप्रियता बढ़ी तो उसके बाद भागवत धर्म अथवा वैष्णव धर्म के रूप में वैदिक श्रमण परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। जैन तथा बौद्ध धर्मों के ह्रास के उपरान्त राम और कृष्ण को आराध्य देव मानने वाली वैष्णव धर्म की लहर ने वैदिक धर्म के क्षेत्र में एक बार पुनः एक नई धार्मिक चेतना को उत्पन्न किया। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, तथा विपुल मात्रा में रचे गए पौराणिक साहित्य ने राम और कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में लोकाराध्य बना दिया। वैदिक कालीन देवताओं का स्थान अब गौण हो गया था तथा हिंसा-प्रधान यज्ञों के स्थान पर पुष्प-पत्रों से परितुष्ट वैष्णव पूजा-पद्धति प्रचलित हो चुकी थी।

वैदिक परम्परा के चिन्तकों ने धार्मिक सहिष्णुतावाद की भावना से अनुप्राणित होकर बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध तथा जैनधर्म के आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव को भी एक पुराकालिक ऐतिहासिक पहचान से जोड़ते हुए विष्णु भगवान् का अवतार मान लिया। इन दोनों श्रमण परम्पराओं के आराध्य पुरुषों को विष्णु का अवतार मानने का एक ऐतिहासिक औचित्य यह भी था कि ये अयोध्या की ऐक्ष्वाक वंश परम्परा से सम्बन्ध रखने वाले धर्मप्रभावक महान् जननायक भी थे। वैदिक परम्परा के अनुसार ऐक्ष्वाक वंशपरम्परा के मूल पुरुष ब्रह्मा माने जाते थे जबकि जैन परम्परा के अनुसार आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव इक्ष्वाकु वंश के आदि पुरुष हुए। सम्भवतः इसी साम्यता को लक्ष्य करके प्रो० पद्मनाभ जैनी

कहते हैं : "ब्रह्मा का ऋषभ के रूप में जैनीकरण, पुनः अवतार की अवधारणा से उन्हीं 'जिन' (ऋषभदेव) का वैष्णवीकरण, वस्तुतः दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के मध्य अनुप्राणित रहने वाली समरसता की एक सुन्दर मिसाल है।"[114]

प्रो० जैनी का मत है कि स्वयं जैन परम्परा के आगमिक साहित्य में ऋषभदेव को प्रधानता के रूप में महत्त्व बहुत परवर्ती काल में दिया गया है। जैन आगम 'कल्पसूत्र' में ऋषभदेव का प्रथम तीर्थङ्कर व प्रथम राजा के अतिरिक्त उनके पंच कल्याणकों का भी यद्यपि उल्लेख मिलता है किन्तु उनका प्रधानता से वर्णन सर्वप्रथम भद्रबाहु द्वारा रचित 'आवश्यकनिर्युक्ति' में आया है।[115] डॉ० जगदीश चन्द्र जैन के अनुसार चौबीस तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेख समवायाङ्ग, कल्पसूत्र और आवश्यकनिर्युक्ति में मिलता है।[116] प्रो० जैनी ने वैदिक पुराणों में 'ऋषभावतार' की अवधारणा पर भी अनेक प्रकार की आशंकाएं प्रकट की हैं। वे कहते हैं कि जब भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया तो उनके ही समकालिक भगवान् महावीर, जो जैनधर्म के 24वें तीर्थङ्कर भी थे, अवतार नहीं माने गए और प्रथम तीर्थङ्कर को ही यह सम्मान दिया गया। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ब्राह्मण संस्कृति के साहित्य में भी भगवान् महावीर का उल्लेख नहीं मिलता।[117] इसका कारण यह बताया गया है कि भगवान् महावीर 'आत्मवादी' होने के कारण शायद वैदिक परम्परा के उतने विरोधी नहीं थे जितने कि 'अनात्मवादी' बुद्ध।[118] परन्तु प्रो० जैनी द्वारा बताया गया यह कारण युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। वास्तव में वैदिक पुराणों के रचनाकारों के पास आदि सभ्यता से सम्बद्ध अयोध्या की ऐक्ष्वाक परम्परा का एक दीर्घकालीन इतिहास था जिसके आदि स्रष्टा भगवान् विष्णु थे। भगवान् ऋषभदेव तथा शाक्य गौतम बुद्ध का प्राचीन इतिहास भी इसी विष्णुमूलक ऐक्ष्वाक वंशपरम्परा से जुड़ा था। सम्भवतः इसी ऐतिहासिक अस्मिता बोध से अनुप्राणित होकर वैदिक पुराणकारों ने श्रमण परम्परा के दो महान् युगधर्म-प्रवर्तकों को विष्णु का अवतार मानकर दोनों धर्मों के मध्य धार्मिक सौहार्द की भावना को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया तथा भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास की एकता को भी मजबूत करना चाहा। पर ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि वैदिक तथा श्रमण परम्परा की धार्मिक एकता और वैचारिक सौहार्द को मजबूत करने में जैन धर्माचार्यों द्वारा रचित पुराणों का भी योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'आदिपुराण' में भगवान् ऋषभदेव के लिए जिनसेनाचार्य ने 'हिरण्यगर्भ', 'प्रजापति', 'स्रष्टा', 'स्वयम्भू' आदि जिन अनेक विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग किया है उनकी संगति बिठाते हुए पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव जब

माता मरुदेवी के गर्भ में आए तो उसके छह मास पहले से ही अयोध्या नगरी में हिरण्य-सुवर्ण की वर्षा होने लगी थी। इसलिए भगवान् ऋषभदेव का 'हिरण्यगर्भ' नाम सार्थक हुआ। आदि तीर्थङ्कर ने कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मों का उपदेश देकर प्रजाजनों की रक्षा की थी इसलिए उन्हें 'प्रजापति' कहा जाने लगा । भगवान् ऋषभदेव ने भोगभूमि नष्ट हो जाने के बाद समाज व्यवस्था की सबसे पहले प्रवर्तना की थी इसलिए उन्हें 'स्रष्टा' कहा जाने लगा। भगवान् ऋषभदेव ने दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं द्वारा आत्मगुणों का स्वयं विकास किया था इसलिए वे 'स्वयंभू' कहलाए ।[119]

स्पष्ट है जिनसेनाचार्य ने जहां एक ओर भारत के प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए जैन तत्त्वमीमांसा का प्रचार व प्रसार किया, वहीं दूसरी ओर वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उन पारिभाषिक शब्दों के फलितार्थ को समझाते हुए वैदिक एवं श्रमण परम्परा की साझा संस्कृति के इतिहास के साथ भी संवाद करने की चेष्टा की है। आधुनिक विद्वानों को इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में वैदिक एवं श्रमण परम्परा के संयुक्त इतिहास का निष्पक्ष मूल्यांकन करना चाहिए । वैदिक पुराणलेखकों ने जैनधर्म के महान् पुरुषों का जिस प्रकार 'भागवतीकरण' किया उसी प्रकार वैदिक परम्परा के लोकप्रिय चरित्र भगवान् राम और कृष्ण के 'जैनीकरण' की प्रवृत्ति भी जैन साहित्य में दृष्टिगत होती है। जैनधर्म के अनुसार 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषों' में से नौ बलदेव, नौ वासुदेव, और नौ प्रतिवासुदेव सदैव समकालिक होते हैं। जैनधर्म के इसी देवशास्त्रीय ढांचे में विमलसूरि ने तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण की लोकप्रिय रामकथा को ढालने का प्रयत्न किया।[120] ग्रन्थकार का कहना है कि नारायण तथा बलदेव की कथा जो पूर्वगत में वर्णित थी तथा जिसे उन्होंने अपने गुरुमुख से सुना था उसी के आधार पर यह (राम) का चरित्र लिखा गया है।[121]

फ़ादर कामिल बुल्के के अनुसार जैन रामकथा के दो भिन्न रूप प्रचलित हैं। श्वेताम्बर समुदाय में केवल विमलसूरि की रामकथा का प्रचार है लेकिन दिगम्बर परम्परा में विमलसूरि तथा गुणभद्र दोनों की रामकथाओं का प्रचार है।[122] विमलसूरि के 'पउमचरिय' में स्पष्ट उल्लेख आया है कि भगवान् महावीर के काल में इस कथा को जैनानुमोदित रूप दिया गया।[123] जैन दृष्टि से राम, लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव माने जाते हैं। बलदेव (बलभद्र) और वासुदेव (नारायण) किसी राजा की भिन्न-भिन्न रानियों के पुत्र होते हैं। इसी देवशास्त्रीय मान्यता के अनुरूप वासुदेव लक्ष्मण अपने बड़े भाई बलभद्र पद्म या राम के साथ प्रतिवासुदेव रावण से युद्ध करते हैं और अन्त में प्रतिवासुदेव का वध करते हैं।[124] इसी देवशास्त्रीय मान्यता के अनुसार जैन

रामकथाओं में राम के द्वारा रावण का वध नहीं कराया जाता बल्कि नारायण लक्ष्मण प्रतिनारायण रावण का वध करते हैं।[125]

जैन परम्परा में रामकथा के उद्भव तथा विकास का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्याङ्कन करते हुए प्रो० वी० एम० कुलकर्णी ने प्राकृत 'पउमचरिय' की प्रस्तावना में कहा है कि रामकथा का उद्भव भगवान् महावीर से मानना विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता क्योंकि जैन आगमों में रामकथा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता जबकि शताब्दियों के बाद हुई कृष्णकथा का वहां उल्लेख मिलता है।[126] रामकथा भगवान् महावीर द्वारा सर्वप्रथम कही गई होती तो आचार्य हेमचन्द्र आदि जैन लेखक विमलसूरि की परम्परा से हटकर रामकथा के सृजन का साहस न कर पाते। प्रो० कुलकर्णी का यह भी मत है कि भगवान् महावीर के समय में रामकथा इतनी लोकप्रिय नहीं हुई होगी जिससे कि उसे धार्मिक दृष्टि से महत्त्व दिया जा सके। दूसरे, विमलसूरि ने रामकथा को भगवान् महावीर से जोड़ने का प्रयास इसलिए भी किया होगा ताकि वे अपने ग्रन्थ को पवित्रता के पद पर आसीन करके जैन धर्मानुयायियों के लिए एक ऐसा धर्मग्रन्थ दे सकें जो वैदिक परम्परा में वाल्मीकि रामायण के समकक्ष हो।[127] इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि रामायण की रचना के बाद ही जैनधर्म में रामकथा का धार्मिक दृष्टि से जैनीकरण हुआ होगा।

अयोध्या में भगवान् ऋषभदेव की राज्याभिषेक विधि का जैसा वर्णन जैन पुराणों में आया है,[128] वह ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में वर्णित राजसूय अभिषेक विधि से प्रभावित जान पड़ता है।[129] ऐक्ष्वाक वंश से सम्बन्धित चक्रवर्ती सगर के विजयाभियानों का स्वर भी वैदिक पुराणों और जैन पुराणों में लगभग एक समान है,[130] परन्तु व्यक्तिगत चरित्र में थोड़ा-बहुत अन्तर भी है। वैदिक पुराणों के अनुसार राजा सगर बाहु का पुत्र था।[131] किन्तु जैन पुराणों में उसे विजय सागर का पुत्र कहा गया है।[132] वैदिक पुराणों के अनुसार सगर के साठ हजार पुत्रों को कपिल मुनि ने भस्म कर दिया था,[133] परन्तु जैन पुराणों के अनुसार सगर के साठ हजार पुत्रों को नागराज ज्वलनप्रभ ने भस्म किया था।[134] इस प्रकार वैदिक तथा श्रमण परम्पराएं पौराणिक चरित्र की दृष्टि से परस्पर भिन्न होते हुए भी अयोध्या के पूर्व इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं के मोड़ पर मिलती अवश्य हैं।

2. जैन पुराणों में अयोध्या

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार इस लोक का रचयिता कोई ईश्वर जैसी शक्ति नहीं अपितु यह लोक अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक इन तीन भेदों से

सर्वदा विद्यमान रहता है।[135] जैन पौराणिक भूगोल के अनुसार इन्हीं तीन लोकों में से मध्यलोक असंख्यात द्वीपों और समुद्रों से आवेष्टित है।[136] इन्हीं द्वीपों में सबसे पहला द्वीप 'जम्बूद्वीप' है जिसकी आधुनिक सन्दर्भ में एशिया महाद्वीप के साथ पहचान की जा सकती है।[137] आदिपुराण[138] के अनुसार लवण समुद्र से घिरा हुआ थाली के समान गोलाकार जम्बूद्वीप मध्यलोक के मध्यभाग में अवस्थित है जिसकी चौड़ाई एक लाख योजन बताई गई है तथा इसके बीचों-बीच मेरुपर्वत स्थित है। इस जम्बूद्वीप के अन्तर्गत छह कुलपर्वत - हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी; सात क्षेत्र - भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यक और ऐरावत[139] तथा चौदह नदियां - गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रुप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा आती हैं[140] -

मध्यमध्यास्य लोकस्य जम्बूद्वीपोऽस्ति मध्यगः।
मेरुनाभिः सुवृत्तात्मा लवणाम्भोधिवेष्टितः॥
सप्तभिः क्षेत्रविन्यासैः षड्भिश्च कुलपर्वतैः।
प्रविभक्तः सरिद्भिश्च लक्षयोजनविस्तृतः॥[141]

जम्बूद्वीप को लवण समुद्र ने घेरा हुआ है। उसके बाद धातकी खण्ड, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप आदि असंख्य द्वीप और समुद्र हैं जो एक दूसरे को वलय की भांति घेरे हुए हैं। पुष्करद्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत विद्यमान है जिसके आगे मनुष्य नहीं जा सकता। इस प्रकार जैन पौराणिक मान्यता के अनुसार मनुष्य की गति केवल अढ़ाई द्वीप - जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप तक ही सीमित है, इससे आगे नहीं। आठवां द्वीप नन्दीश्वरद्वीप के रूप में विख्यात है जहां देवों का विहार होता है तथा अन्तिम द्वीप 'स्वयंभूरमण' कहलाता है।[142] संक्षेप में इन्हीं (देवशास्त्रीय) 'मिथॉलॉजिकल' मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में जैन भूगोल का परिचय उल्लेखनीय है।

2.1 जैन भूगोल के अनुसार अयोध्या

जैन भूगोल के अनुसार लगभग 526 योजन विस्तार वाला भरतक्षेत्र क्षुद्र हिमवन्त के दक्षिण में तथा पूर्वी और पश्चिमी समुद्र के मध्य में अवस्थित है। इसके बीचों-बीच पूर्वापर लम्बायमान विजयार्ध पर्वत अथवा वैताढ्य पर्वत है जिसके पूर्व में गंगा और पश्चिम में सिन्धु नदी बहती है। इन दो नदियों तथा विजयार्ध पर्वत से विभाजित इस भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते हैं।[143] विजयार्ध के

दक्षिणवर्ती तीन खण्डों में मध्य खण्ड 'आर्यखण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है तथा शेष पांच खण्ड 'म्लेच्छखण्ड' कहलाते हैं। 'आर्यखण्ड' के मध्य में स्थित बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौड़ा क्षेत्र 'अयोध्या' के नाम से प्रसिद्ध है।[144] जैन साहित्य में अयोध्या के पर्यायवाची विनीता, साकेत, कोशला, इक्ष्वाकुभूमि, रामपुरी, विशाखा आदि नामों का भी उल्लेख मिलता है।[145]

जैन परम्परा के अनुसार अयोध्या को आदि तीर्थ और आदि नगर माना गया है क्योंकि भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव), जो जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भी थे, ने यहां की प्रजा को सभ्य तथा सुसंस्कृत बनाया था। 'कोशल' जैन सूत्रों का एक प्राचीन जनपद माना गया है। वैशाली में जन्म लेने के कारण जैसे महावीर को 'वैशालिक' कहा जाता था उसी प्रकार ऋषभदेव 'कौशलिक' (कोसलिय) कहे जाते थे। कोशल का ही प्राचीन नाम विनीता था। कहते हैं कि विविध प्रकार की कलाओं में कुशलता प्राप्त करने के कारण विनीता को 'कुशला' या 'कोशला' कहने लगे।[146] अवध देश को कोशल जनपद माना गया है। 'आदिपुराण' में इसके दो विभाग पाए जाते हैं - उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल। अयोध्या, श्रावस्ती, लखनऊ आदि नगर उत्तर कोशल जनपद में सम्मिलित थे तथा दक्षिण कोशल को विदर्भ या महाकोशल कहा गया है।[147] जैन परम्परा की दृष्टि से कोशल जनपद धार्मिक दृष्टि से बहुत पवित्र माना जाता है। शताधिक जैनधर्म की प्राचीन कथाएं कोशल देश और साकेत नगरी से सम्बद्ध हैं। तीर्थङ्करों की पावन जन्मभूमि होने के कारण भी अयोध्या की विशेष महिमा जैन साहित्य में वर्णित है। 'बृहत्कल्पसूत्र' नामक जैन आगम के अनुसार भगवान् महावीर जब साकेत (अयोध्या) के उद्यान में विहार कर रहे थे तो जैन श्रमणों को लक्ष्य करके उन्होंने विहार सम्बन्धी यह नियम निर्धारित किया[148] कि "निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनी साकेत के पूर्व में अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक और उत्तर में कुणाला (श्रावस्ती जनपद) तक विहार कर सकते हैं। इतने ही क्षेत्र आर्यक्षेत्र हैं, इसके आगे नहीं क्योंकि इतने ही क्षेत्रों में साधुओं के ज्ञान, दर्शन और चारित्र अक्षुण्ण रह सकते हैं।"[149]

जैन धर्म के चौबीस तीर्थङ्करों में से पांच तीर्थङ्करों - भगवान् ऋषभदेव, श्री अजितनाथ, श्री अभिनन्दननाथ, श्री सुमतिनाथ और श्री अनन्तनाथ की जन्मभूमि अयोध्या है।[150] चक्रवर्ती भरत और सगर ने भी अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया था। आचार्य गुणभद्र के अनुसार मघवा, सनत्कुमार और सुभौम चक्रवर्ती का जन्म भी अयोध्या में ही हुआ था। राजा दशरथ और नारायण श्री रामचन्द्र भी अयोध्या में राज्य करते थे।[151]

2.2 जैन पुराणों में अयोध्या वर्णन

जैन पौराणिक मान्यता के अनुसार सभ्यता के आदिकाल में पहले कल्पवृक्षों से ही मनुष्यों की सभी आवश्यकताएं पूरी होतीं थीं। चौदहवें तथा अन्तिम कुलकर नाभिराज के समय में कल्पवृक्षों का अभाव होने पर भोगभूमि की स्थिति नष्ट हो गई तथा कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ।[152] इसी सन्धिकाल में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विजयार्ध पर्वत के दक्षिण की ओर स्थित मध्य आर्यखण्ड के राजा नाभिराज और उनकी रानी मरुदेवी के पुत्र के रूप में आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।[153] आचार्य जिनसेन द्वारा 900 ईस्वी में रचित 'आदिपुराण' में भगवान् ऋषभदेव के स्वर्गावतरण तथा गर्भावतरण का भव्य वर्णन किया गया है।[154] 'आदिपुराण' के अनुसार तीर्थङ्कर भगवान् के जन्म से पूर्व ही विश्व की प्रथम नगरी अयोध्या का इन्द्र के नेतृत्व में स्वयं देवताओं ने निर्माण किया था। उन देवों ने इस नगरी को स्वर्गपुरी के समान सुन्दर इसलिए भी बनाया था ताकि ऐसा लगे मानो स्वर्ग लोक ही मध्यलोक में प्रतिबिम्बित हो गया हो। 'आदिपुराण' के श्लेषात्मक कथन में स्वर्ग 'त्रिदशावास' (तीस व्यक्तियों के रहने योग्य स्थान) मात्र था किन्तु पृथ्वीलोक में निर्मित अयोध्या नगरी इतनी विस्तृत थी कि इसमें सैकड़ों, हजारों मनुष्य रह सकते थे -

सुराः ससंभ्रमाः सद्यः पाकशासनशासनात्।
तां पुरीं परमानन्दाद् व्यधुः सुरपुरीनिभाम्॥
स्वर्गस्यैव प्रतिच्छन्दं भूलोकेऽस्मिन्निधित्सुभिः।
विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी।
स्वस्वर्गस्त्रिदशावासः स्वल्प इत्यवमत्य तम्।
परश्शतजनावासभूमिकां तां नु ते व्यधुः॥[155]

नगरविन्यास की दृष्टि से अयोध्या का निर्माण राजधानी नगरी के रूप में किया गया था। इस नगरी के मध्य भाग में राजभवन बनाया गया था। नगरी के चारों ओर वप्र (धूलिकोट), प्राकार (चार मुख्य द्वारों सहित पत्थर के बने हुए कोट) तथा परिखा (खाई) का निर्माण हुआ था।[156] आदिपुराणकार जिनसेन ने भी परम्परागत 'अष्टाचक्रा' अयोध्या के दुर्गनगर स्वरूप को मध्यकालीन नगर वास्तु से जोड़ते हुए कहा है कि 'अयोध्या' नाम से ही अयोध्या नहीं थी बल्कि सामरिक दृष्टि से कोई भी शत्रु उस पर युद्ध नहीं कर सकता था। 'अरिभिः योद्धुं न शक्या - अयोध्या'।[157] उसे 'साकेत' इसलिए कहते थे क्योंकि वह अपने भव्य भवनों के लिए प्रशंसनीय थी तथा उन भवनों पर फहराती हुई पताकाओं द्वारा

'साकेत' नाम सार्थक हो रहा था 'आकेतैः गृहैः सहवर्तमाना-साकेता।'[158] वह अयोध्या सुकोशल देश में थी इसलिए इसे 'सुकोशला' कहा जाता था। वह नगरी अनेक 'विनीत' अर्थात् विनयशील सभ्यजनों से व्याप्त थी इसलिए वह 'विनीता' के नाम से प्रसिद्ध हुई।[159] इस प्रकार जिनसेनाचार्य के अनुसार सुकोशला राज्य की राजधानी नगरी अयोध्या राजभवन, वप्र, परिखा आदि से सुशोभित एक ऐसी आदर्श नगरी थी जो ऐसा लगता था मानो आगे कर्मभूमि के समय में निर्मित होने वाले नगरों के लिए आदर्श मानदण्ड ही बन गई हो -

बभौ सुकोशला भाविविषयस्यालघीयसः ।
नाभिलक्ष्मीं दधानासौ राजधानी सुविश्रुता ॥
सनृपालमुद्वप्रं दीप्रशालं सखातिकम् ।
तद्वर्त्स्यन्नगराम्भे प्रतिच्छन्दायितं पुरम् ॥[160]

'आदिपुराण' दिगम्बर सम्प्रदाय का ग्रन्थ है जिसके अनुसार आदि तीर्थङ्कर के गर्भावतरण से पूर्व ही इन्द्र की आज्ञा से 'अयोध्या' नगरी का निर्माण कर दिया गया था।[161] किन्तु हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित श्वेताम्बर सम्प्रदाय की रचना 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नामक पौराणिक महाकाव्य के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के राज्याभिषेक के अवसर पर स्वर्गपति इन्द्र ने स्वयं उपस्थित होकर राज्यसिंहासन का निर्माण किया,[162] देवताओं द्वारा लाए गए तीर्थ जलों से भगवान् की अभिषेक क्रिया का सम्पादन किया[163] और 'विनीता' नाम से अयोध्या नगरी को बसाने की कुबेर को आज्ञा दी। 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के अनुसार कुबेर ने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी 'विनीता' नगरी का निर्माण किया और उसका दूसरा नाम 'अयोध्या' रखा -

विनीता साध्वमी तेन विनीताख्यां प्रभोः पुरीम् ।
निर्मातुं श्रीदमादिश्य मघवा त्रिदिवं ययौ ॥
द्वादशयोजनायामां नवयोजनविस्तृताम् ।
अयोध्येत्यपराभिख्यां विनीतां सोऽकरोत्पुरीम् ॥[164]

हेमचन्द्राचार्य (12वीं शताब्दी ई०) ने भी जिनसेनाचार्य की भांति अयोध्या नगरी के समृद्ध तथा उन्नत वास्तुशिल्प को विशेष रूप से रेखाङ्कित किया है। हेमचन्द्राचार्य के अनुसार अयोध्या के उत्तुङ्ग भवन हीरों, इन्द्रनीलमणियों और वैडूर्यमणियों से बने हुए थे तथा उनमें पताकाएं फहराती थीं। नगरी के किलों पर माणिक्य के कंगूरों की श्रेणियां बनी थीं जो दर्पण का काम करती थीं, घरों के आंगन मोतियों से बने स्वस्तिकों से सुशोभित रहते थे -

तत्रोच्चैः काञ्चनैर्हर्म्यै मेरुशैलशिरांस्यभिः ।
पत्रालम्बनलीलेव ध्वजव्याजाद्वितन्यते ॥
तद्वप्रे दीप्तमाणिक्यकपिशीर्षपरंपराः ।
अयत्ना दर्शतां यान्ति चिरं खेचरयोषिताम् ॥
तस्यां गृहांगणभुवि स्वस्तिकन्यस्तमौक्तिकैः ।
स्वैरं कर्करिककीमां कुरुते वालिकाजनः ॥[165]

अयोध्या के भवनों में लगे रत्नों के ढेरों को देखकर तो विशाल रोहणाचल पर्वत की आशंका होती थी तथा गृहवापिकाएं जल-क्रीड़ा करती हुई सुन्दरियों के मोतियों के हार टूटने से ताम्रपर्णी नदी के समान शोभा को धारण कर रहीं थीं। अयोध्या नगरी के अमृत के समान जल वाले लाखों कुएं और बावड़ियां नागलोक में स्थित नवीन अमृत के कुम्भ सदृश दिखाई देतीं थीं -

तत्र दृष्टावाट्टहर्म्येषु रत्नराशीन् समुत्थितान् ।
तदावरककूटोऽयं तर्क्यते रोहणाचलः ॥
जलकेलिरतस्त्रीणां त्रुटितैर्हारमौक्तिकैः ।
ताम्रपर्णीश्रियं तत्र दधते गृहदीर्घिकाः ।
वापीकूपसरोलक्षैः सुधासोदरवारिभिः ।
नागलोकं नवसुधाकुम्भं परिबभूव सा ॥[166]

वैदिक परम्परा के साक्ष्य हों या जैन परम्परा के, अयोध्या के साथ यक्ष संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अथर्ववेद के अनुसार यह यक्ष साक्षात् ब्रह्म स्वरूप होकर अयोध्या में प्रतिष्ठित रहा था[167] तो जैन पुराणों में भी यक्षराट् कुबेर इस अयोध्या के निर्माता बताए गए हैं -

तांच निर्माय निर्मायः पूरयामास यक्षराट् ।
अक्षय्यवस्त्र-नेपथ्य-धन-धान्यैर्निरन्तरम् ॥[168]

'आदिपुराण' के अनुसार कुबेर ने अयोध्या बनने के बाद निरन्तर रूप से छह महीने तक रत्न की वर्षा की थी[169] -

संक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता ।
साभात् स्वसम्पदौत्सुक्यात् प्रस्थितेवाग्रतो विभोः॥[170]

जैन पुराणों से सम्बन्धित अयोध्यावर्णन वाल्मीकि रामायण से बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ता है किन्तु इन वर्णनों में मध्यकालीन भारत के समसामयिक नगरवास्तु के लक्षण भी चरितार्थ हुए हैं।

2.3 जैन परम्परा में इक्ष्वाकुवंश

वैदिक परम्परा के समान ही जैन परम्परा के पौराणिक साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि अयोध्या की स्थापना के बाद ही इक्ष्वाकुवंश का विधिवद् इतिहास प्रारम्भ हुआ।[171] वैदिक परम्परा के अनुसार वैवस्वत मनु ने सर्वप्रथम अयोध्या नगरी का निर्माण किया और उसके उपरान्त उनके वंशकर पुत्र 'इक्ष्वाकु' से सूर्यवंशी ऐक्ष्वाक वंशानुक्रम प्रारम्भ हुआ।[172] उधर जैन परम्परा के अनुसार सौधर्म कल्प के इन्द्र ने स्वर्ग से आकर आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव को राज्याभिषिक्त करने के लिए अयोध्या नगरी का निर्माण किया।[173] भगवान् ऋषभदेव चौदहवें कुलकर नाभिराज के पुत्र थे। इन्हीं से इक्ष्वाकुवंश का प्रारम्भ हुआ।[174] परन्तु जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराएं इक्ष्वाकुवंश के नामकरण की घटना को भिन्न भिन्न रूप में प्रस्तुत करती हैं। दिगम्बर आम्नाय के आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों की धन-सम्पत्ति का विभाग करने के उपरान्त मनुष्यों को इक्षुरस (गन्ने का रस) संग्रह करने का उपदेश दिया था। इसी कारण भगवान् ऋषभ देव 'इक्ष्वाकु' के रूप में प्रसिद्ध हो गए।[175] उधर श्वेताम्बर आम्नाय के प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार आदि तीर्थङ्कर जब बाल्यावस्था में ही थे तथा अपने पिता नाभिराज की गोद में बैठे थे तो सौधर्म कल्प के इन्द्र को भगवान् ऋषभदेव के दर्शन करने की इच्छा हुई। वे खाली हाथ न जाकर अपने साथ प्रभु को भेंट करने के लिए गन्ना भी साथ लेकर आए। भगवान् ऋषभदेव ने अवधिज्ञान द्वारा इन्द्र के मनोभाव को जानते हुए 'इक्षु' को ग्रहण कर लिया। तब से इन्द्र ने भगवान् ऋषभदेव के वंश का नाम 'इक्ष्वाकु' रख दिया।[176]

प्राकृत 'पउमचरिय' के रचयिता विमलसूरि के अनुसार कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर जब कुबेर ने अयोध्या नगरी की रचना की थी तो उस समय लोगों का आहार ईख (इक्षु) का रस ही मुख्य आहार था -

कालसभावेण तओ, नट्ठसु य विविहकप्परुक्खेसु ।
तइया इक्खुरसोच्चिय, आहारो आसि मणुयाणं ॥[177]

इस प्रकार जैन पौराणिक इतिहास के अनुसार सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव से ही 'इक्ष्वाकु' वंश का प्रारम्भ हुआ।[178] बाद में इसकी दो शाखाएं हो गईं - एक सूर्यवंश और दूसरी चन्द्रवंश।[179] सूर्यवंश की शाखा भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति से प्रारम्भ हुई क्योंकि अर्क नाम सूर्य का है। सूर्यवंश ही सर्वत्र 'इक्ष्वाकु' वंश के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[180] चन्द्रवंश की शाखा बाहुबली के पुत्र सोमयश से प्रारम्भ होती है। इसी का नाम सोमवंश भी है[181] क्योंकि 'सोम' और

'चन्द्र' पर्यायवाची हैं।[182] 'पद्मपुराण' के अनुसार प्राचीन काल के चार महावंशों - इक्ष्वाकुवंश, चन्द्रवंश, विद्याधरवंश तथा हरिवंश में इक्ष्वाकुवंश ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है[183] -

> **जगत्यास्मिन् महावंशाश्चत्वारः प्रथिता नृप।**
> **एषां रहस्यसंयुक्ताः प्रभेदा बहुधोदिताः॥**
> **इक्ष्वाकुः प्रथमस्तेषामुन्नतो लोकभूषणः।**
> **ऋषिवंशो द्वितीयस्तु शशाङ्ककरनिर्मलः।**
> **विद्याभृतां तृतीयस्तु वंशोऽत्यन्तमनोहरः।**
> **हरिवंशो जगत्ख्यातश्चतुर्थः परिकीर्तितः॥**[184]

2.4 तीर्थङ्कर ऋषभदेव के बाद इक्ष्वाकु वंशावली

वैदिक परम्परा के पुराणों की भांति जैन पुराणों में भी अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओं की वंशावली का उल्लेख मिलता है। जैन पुराणकारों ने अयोध्या में जन्म लेने वाले तीर्थङ्करों के युग को आधार बनाकर इक्ष्वाकु राजाओं का वंशानुक्रम देने का प्रयास किया है। विमलसूरि रचित 'पउमचरिय' (तीसरी-चौथी शती ई०),[185] रविषेणाचार्य रचित 'पद्मपुराण' (676 ई०),[186] तथा जिनसेनाचार्य रचित 'हरिवंशपुराण'[187] में प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के युग की इक्ष्वाकु वंशावली का निम्न प्रकार से उल्लेख मिलता है -

1. भगवान् ऋषभदेव, 2. चक्रवर्ती भरत, 3. आदित्ययशा 4. सिंहयशा/सितयशा/स्मितयशा, 5. बलभद्र/बलांक/बल, 6. वसुबल/सुबल, 7. महाबल, 8. अतिबल, 9. अमृत/अमृतबल, 10. सुभद्र, 11. सागरभद्र/सागर, 12. भद्र, 13. रवितेज, 14. शशिप्रभ/शशी, 15. प्रभूततेज, 16. तेजस्वी, 17. तपन, 18. प्रतापवान् 19. अतिवीर्य, 20. महावीर्य/सुवीर्य, 21. उदितवीर्य/उदित/पराक्रम, 22. महेन्द्रविक्रम, 23. सूर्य, 24. इन्द्रद्युम्न, 25. महेन्द्रजित्, 26. प्रभु, 27. विभु, 28. अरिदमन/अविध्वंश, 29. वीतभी, 30. वृषभकेतु/वृषभध्वज, 31. गरुडांक और 32. मृगांक।

उपर्युक्त इक्ष्वाकु वंशावली 'पउमचरिय', 'पद्मपुराण' तथा 'हरिवंशपुराण' के आधार पर निश्चित होती है। इनमें कहीं-कहीं राजाओं के नामों और वंशानुक्रम में मतभेद भी दिखाई देता है।

'पउमचरिय' में अमृत/अमृतबल, वीतभी का नामोल्लेख नहीं मिलता और 'सागरभद्र' को दो राजाओं का नाम न मानकर केवल एक ही नाम माना गया है।[188] इसलिए विमलसूरि के अनुसार भगवान् ऋषभदेव से लेकर मृगांक तक 29

पीढ़ियों का ही वंशानुक्रम दिया गया है जबकि 'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' के अनुसार 32 पीढ़ियों की गणना की गई है। इसके अतिरिक्त राजाओं के नामों से सम्बद्ध पाठभेद भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ चौथी पीढ़ी में 'पउमचरिय' के अनुसार राजा का नाम 'सिंहयशा' है तो 'पद्मपुराण' के अनुसार राजा का नाम 'सितयशा' और 'हरिवंशपुराण' में उसका पाठभेद 'स्मितयशा' मिलता है।[189] इसी प्रकार नौवीं पीढ़ी का राजा 'पद्मपुराण' में 'अमृत' है तो 'हरिवंश' के अनुसार 'अमृतबल' है परन्तु 'पउमचरिय' में इस नाम के किसी भी राजा का उल्लेख नहीं मिलता।[190] चौदहवीं पीढ़ी में 'पउमचरिय' के अनुसार राजा 'शशिप्रभ' अन्य दोनों पुराणों में 'शशी' के नाम से उल्लिखित है।[191] 'पउमचरिय' में 'सुवीर्य' (20) का 'महावीर्य' के रूप में, 'उदितपराक्रम' (21) का 'उदितवीर्य' के रूप में, 'अविध्वंश' (28) का 'अरिदमन' के रूप में और 'वृषभध्वज' (30) का 'वृषभकेतु' के रूप में नामोल्लेख मिलता है।

'हरिवंशपुराण' ने सतरहवीं पीढ़ी में राजा 'तपन' के बाद 'प्रतापवान्' का उल्लेख किया है जबकि 'पउमचरिय' और 'पद्मपुराण' में इसे 'तपन' का ही विशेषण माना गया है।[192]

'हरिवंशपुराण' के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के युग में भरत आदि चौदह लाख इक्ष्वाकुवंशीय राजा लगातार मोक्ष को प्राप्त हुए। उसके बाद एक राजा सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुआ, फिर अस्सी राजा मोक्ष गए परन्तु उनके बीच में एक-एक राजा इन्द्र पद को प्राप्त होता रहा।[193]

2.5 तीर्थङ्कर अजितनाथ के बाद इक्ष्वाकु वंशावली

जैन पुराणों के अनुसार प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का युग समाप्त होने पर धार्मिक क्रियाओं में शिथिलता आने लगी थी।[194] तब भी अनेक इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ने अयोध्या में राज्य किया था। सूर्यवंशी राजाओं की इसी इतिहास परम्परा में धरणीधर नामक राजा हुए।[195] उनकी स्त्री का नाम श्री देवी था तथा उनके त्रिदशंजय नामक पुत्र हुआ। त्रिदशंजय के पुत्र का नाम जितशत्रु था। पोदनपुर के राजा व्यानन्द की पुत्री विजया के साथ इसका विवाह हुआ।[196] जितशत्रु और रानी विजया से जैन धर्म के द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ का जन्म हुआ।[197] जितशत्रु के छोटे भाई विजयसागर थे। उनकी स्त्री का नाम सुमंगला था। उन दोनों से सगर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।[198] सगर भरत चक्रवर्ती के समान ही अत्यन्त पराक्रमी द्वितीय चक्रवर्ती सम्राट हुआ।[199] सगर के साठ हजार पुत्रों में जह्नु राज्य का उत्तराधिकारी बना[200] और जह्नु का पुत्र राजा भगीरथ हुआ।[201]

2.6 तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के बाद इक्ष्वाकु वंशावली

'पद्मपुराण' में बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ का अन्तराल प्रारम्भ होने पर विजय नामक राजा से अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओं का वंशानुक्रम पुनः प्रारम्भ होता है।[202] राजा विजय की रानी का नाम हेमचूला था। उससे सुरेन्द्रमन्यु नामक पुत्र हुआ।[203] तदनन्तर सुरेन्द्रमन्यु की कीर्तिसमा स्त्री से वज्रबाहु और पुरन्दर नामक दो पुत्र हुए।[204] इससे आगे छोटे पुत्र पुरन्दर से इक्ष्वाकुवंश की परम्परा चलती है। पुरन्दर की भार्या पृथिवीमती से कीर्तिधर हुआ।[205] कीर्तिधर की रानी सहदेवी से सुकोशल हुआ।[206] सुकोशल की स्त्री विचित्रमाला से हिरण्यगर्भ हुआ।[207] हिरण्यगर्भ का विवाह राजा हरि की अमृतवती नामक कन्या से हुआ। हिरण्यगर्भ ने अमृतवती से उत्पन्न पुत्र नघुष को राज्य सौंपकर स्वयं दीक्षा धारण कर ली।[208]

राजा नघुष समस्त शत्रुओं को वश में कर लेने के कारण 'सुदास' कहलाया और उसका पुत्र 'सौदास' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[209] 'पद्मपुराण' के अनुसार सौदास आचारभ्रष्ट होकर नरमांसभक्षी हो गया था।[210] इसलिए वह 'सिंहसौदास' के रूप में भी विख्यात हुआ।[211] सौदास का कनकाभा नामक स्त्री से सिंहरथ नामक पुत्र हुआ था।[212] सौदास ने अपने पुत्र सिंहरथ को युद्ध में जीतकर पुनः उसे ही अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया था।[213] 'पद्मपुराण' के अनुसार सौदास के बाद इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की वंशावली का क्रम इस प्रकार चलता है

सौदास, सिंहरथ, ब्रह्मरथ, चतुर्मुख, हेमरथ, शतरथ, पृथु, अज, पयोरथ, इन्द्ररथ, सूर्यरथ (दिननाथरथ),[214] मान्धाता, वीरसेन, प्रतिमन्यु, दीप्ति, कमलबन्धु, प्रताप, रविमन्यु, वसन्ततिलक, कुबेरदत्त, कीर्तिमान, कुन्थुभक्ति, शरभरथ, द्विरदरथ, सिंहदमन, हिरयकशिपु, पुञ्जस्थल, ककुत्थ और रघु।[215]

2.7 रघुवंश के इक्ष्वाकुराजा

जैन पौराणिक राजवंशावलियों में 'रघुवंश' का भी नामोल्लेख मिलता है। यह वंश भी अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओं का ही वंश था। इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजा रघु से 'रघुवंश' की उत्पत्ति हुई है।[216] 'पद्मपुराण' के अनुसार राजा रघु के अयोध्या में अनरण्य नामक पुत्र हुआ। उसने सम्पूर्ण देश में अरण्यों अर्थात् जङ्गलों को काटकर लोगों को बसाने का उपक्रम किया था इसलिए रघु के पुत्र का नाम 'अनरण्य' प्रसिद्ध हुआ।[217] राजा अनरण्य की रानी का नाम पृथिवीमती था। उससे दो पुत्र हुए जिनमें ज्येष्ठ का नाम अनन्तरथ और छोटे पुत्र का नाम दशरथ था।[218] राजा अनरण्य अपने ज्येष्ठ पुत्र अनन्तरथ के साथ जैन धर्म में दीक्षित हो गए तथा अयोध्या के उत्तराधिकारी दशरथ बने।[219] राजा दशरथ की चार रानियां थीं अपराजिता, सुमित्रा, केकया और सुप्रभा।[220] अपराजिता से राम अथवा 'पद्म' या

'बल' उत्पन्न हुए।[221] सुमित्रा का पुत्र लक्ष्मण हुआ जिसका दूसरा नाम 'हरि' भी था।[222] केकया से भरत उत्पन्न हुए जिसकी 'अर्धचक्रवर्ती' के रूप में भी प्रसिद्धि हुई[223] तथा सुप्रभा का पुत्र शत्रुघ्न था।[224]

2.8 जैन इक्ष्वाकु वंशावली : एक तुलनात्मक दृष्टि

जैन पुराणों में वर्णित उपर्युक्त इक्ष्वाकु वंशावली की यदि वैदिक परम्परा द्वारा अनुमोदित इक्ष्वाकु वंशावली के साथ तुलना की जाए तो अनेक प्रकार की विसंगतियां भी सामने आती हैं। वैदिक परम्परा के अनुसार वैवस्वत मनु ने सर्वप्रथम अयोध्या नगरी की स्थापना की थी और उसके सौ पुत्रों में ज्येष्ठ इक्ष्वाकु अयोध्या का उत्तराधिकारी बना तथा उसी के नाम से इक्ष्वाकु वंशावली का नामकरण भी हुआ।[225] दूसरी ओर जैन पुराणों का मत है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की राजधानी नगर के रूप में सौधर्म इन्द्र ने अयोध्या नगरी का निर्माण किया तथा 'इक्षु' के नाम पर इस राजवंशावली को 'इक्ष्वाकु' नाम मिला।[226] सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश की उत्पत्ति के बारे में भी दोनों परम्पराएं एक मत नहीं। वैदिक परम्परा के अनुसार मनु से सूर्यवंश चला और मनु की पुत्री इला से चन्द्रवंश।[227] उधर जैन पुराणकारों के अनुसार भरत चक्रवर्ती के पुत्र 'अर्ककीर्ति' से सूर्यवंश की शाखा चली तो बाहुबली के पुत्र 'सोमयश' से चन्द्रवंश की शाखा का प्रारम्भ हुआ।[228]

जैन पुराणों के मतानुसार प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के बाद चक्रवर्ती भरत से लेकर मृगाङ्क तक जिन बत्तीस राजाओं के नाम इक्ष्वाकु वंशावली के अन्तर्गत परिगणित हैं उनमें से कोई एक नाम भी वैदिक परम्परा की वंशावली से नहीं मिलता। इसी प्रकार द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ के अन्तराल की इक्ष्वाकु वंशावली के केवल दो राजाओं के नाम - चक्रवर्ती सगर तथा भगीरथ के नाम वैदिक परम्परा से मिलते हैं।[229] बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के अन्तराल से प्रारम्भ होने वाली इक्ष्वाकु वंशावली में राजा 'नघुष' जैन पुराणों के अनुसार 'सुदास' के रूप में भी प्रसिद्ध था।[230] इसी 'सुदास' का नरमांसभक्षी पुत्र जैन पुराणों में 'सौदास' अथवा 'सिंह सौदास' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[231] उधर वैदिक परम्परा में 'सुदास' 51वीं पीढ़ी का ऐक्ष्वाक राजा था[232] और वेदों का प्रसिद्ध मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी रहा।[233] इसी सुदास का पुत्र 'मित्रसह' वैदिक पुराणों में 'कल्माषपाद सौदास' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। ऋषि वसिष्ठ के शाप के कारण 'मित्रसह' के पैर काले हो गए थे इसलिए उसे 'कल्माषपाद' कहा जाने लगा था।[234] जो भी हो पूर्वापर सम्बन्धों को देखते हुए ये दोनों 'सौदास' भी अभिन्न सिद्ध नहीं होते। जैन इक्ष्वाकु वंशावली में पृथु के बाद अज तथा सूर्यरथ के बाद मान्धाता का उल्लेख मिलता है[235] जबकि वैदिक पुराणों के अनुसार रघु का पुत्र

अज 61वीं पीढ़ी में हुआ और मान्धाता उससे बहुत पहले 20वीं पीढ़ी में हुआ था।[236] इस प्रकार इन राजाओं की भी दोनों परम्पराओं के साथ संगति बिठाना असम्भव ही है। वैदिक परम्परा के अनुसार अज के पुत्र दशरथ थे और दशरथ की तीन रानियों - कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी से चार पुत्र हुए जिनके नाम थे - राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न।[237] जैन पौराणिक परम्परा के अनुसार दशरथ अज के नहीं अनरण्य के पुत्र थे जिनकी चार रानियों अपराजिता, सुमित्रा, केकया और सुप्रभा से क्रमशः पद्म (राम), लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का जन्म हुआ।[238]

इस प्रकार जैन तथा वैदिक इक्ष्वाकु वंशावलियां एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर इनमें परस्पर सहमति भी दिखाई देती है। उदाहरणार्थ दोनों परम्पराओं का यह दृढ़ विश्वास है कि इक्ष्वाकुकुल के सूर्यवंशी राजाओं ने अयोध्या की स्थापना करके मानव सभ्यता के इतिहास में चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा को एक नई दिशा प्रदान की। दोनों परम्पराओं में चक्रवर्ती सम्राट् सगर तथा राजा भगीरथ के ऐतिहासिक महत्त्व को विशेष रूप से रेखाङ्कित किया गया है। दशरथपुत्र राम के गौरवपूर्ण इतिहास को भी वैदिक तथा जैन दोनों परम्पराओं का पौराणिक साहित्य विशेष महत्त्व देता है। इस सम्बन्ध में प्रो० हैन्स बेकर का यह मत ध्यान देने योग्य है कि जैन परम्परा में इक्ष्वाकुवंश से सम्बन्धित रामकथा को देवशास्त्रीय (मिथॉलॉजिकल) स्वरूप ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही दिया जाने लगा था किन्तु विमलसूरि के प्राकृत 'पउमचरिय' (चतुर्थ शताब्दी ईस्वी) में सर्वप्रथम इस देवशास्त्रीय अवधारणा की उद्‌भावना हुई।[239] प्रो० बेकर का यह भी मत है कि जैन पुराणों में 'विनीता' का देवशास्त्रीय वर्णन वस्तुतः अयोध्या का ही ऐतिहासिक निरूपण है।[240] स्वयं विमलसूरि का कथन है कि उनके द्वारा वर्णित 'पद्मचरित' का आख्यान आचार्यों की परम्परा से चला आ रहा था, नामावलीबद्ध था[241] तथा साधुपरम्परा द्वारा लोकप्रसिद्ध हो गया था।[242] इसका अर्थ यह है कि नामावली के रूप में निबद्ध पद्मकथा को सर्वप्रथम विमलसूरि ही ने वाल्मीकि रामायण की शैली के अनुरूप विशेष रूप से पल्लवित किया और जैन परम्परा में वैदिक परम्परा के समकक्ष रामकथा को 'चरितकाव्य' के रूप में प्रस्तुत किया।[243] इसी परिप्रेक्ष्य में इक्ष्वाकु वंशावली का भी ऐतिहासिक मूल्याङ्कन किया जाना चाहिए। जैन आगम ग्रन्थों में ऐक्ष्वाक वंशावली का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम विमलसूरि के प्राकृत 'पउमचरिय' में इसका उल्लेख मिलता है। सम्भवतः इसी 'पउमचरिय' में प्राप्त इक्ष्वाकु वंशावली को आधार बनाकर बाद में रविषेण के 'पद्मपुराण'[244] तथा जिनसेन के 'हरिवंशपुराण'[245] आदि ग्रन्थों में कतिपय संशोधनों के साथ इक्ष्वाकुवंश के राजाओं के नाम गिनाए गए हैं।

3. एक पावन जैनतीर्थ क्षेत्र के रूप में अयोध्या

जैन धर्म के प्रसिद्ध तीर्थस्थानों में अयोध्या भी एक प्रमुख तीर्थ माना जाता है। जैन धर्म के चौबीस तीर्थङ्करों में से पांच तीर्थङ्करों - ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ और अनन्तनाथ का जन्म अयोध्या में ही हुआ था। प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणक यहीं हुए तथा शेष चार तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक होने के कारण अयोध्या नगरी को तीर्थङ्करों के 18 कल्याणक सम्पन्न कराने का सौभाग्य प्राप्त है। पांचवी सदी में रचित आचार्य यतिवृषभ की 'तिलोयपण्णत्ती' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) के अनुसार जहां गुणों के निधान तीर्थङ्कर आदि महान् पुरुषों का निवास, दीक्षा, केवलज्ञान, आदि मांगलिक कार्यों का अनुष्ठान होता है उस पवित्र स्थान को 'क्षेत्रमंगल' अर्थात् कल्याणकारी तीर्थ की संज्ञा प्राप्त होती है।[246] जैन धर्म में पावापुरी, उर्जयन्त, चम्पा आदि के समान अयोध्या भी अतिपुण्यकारी तीर्थ माना गया है।[247]

छठी शताब्दी ई० पू० में भगवान् महावीर के आविर्भाव के उपरान्त अयोध्या भी जैनधर्म की गतिविधियों का मुख्य केन्द्र बन गया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैन आगमों के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् महावीर के अयोध्या में पदार्पण द्वारा जैनधर्म के तीर्थ के रूप में इसे विशेष ख्याति अर्जित हुई।[248] जैन आगम 'बृहत्कल्पसूत्र' के अनुसार भगवान् महावीर जब साकेत (अयोध्या) के उद्यान में विहार कर रहे थे तो जैन धर्मानुयायियों को लक्ष्य करके उन्होंने जैन श्रमणों के लिए 'आर्यक्षेत्र' की सीमा का निर्धारण किया था।[249] हैन्स बेकर का मत है कि पांचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म की भाँति जैनधर्म के अनुयायी 'उत्तरकुरु' नामक उद्यान में अपनी धार्मिक सभाएं और सत्संग का आयोजन करते थे। सम्भवतः इसी समय से धार्मिक भवनों आदि के निर्माण द्वारा अयोध्या का जैन तीर्थक्षेत्र के रूप में विकास होने लगा था।[250] एक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार साकेत के एक श्रेष्ठि कालक द्वारा 'कालकाराम' नामक उद्यान को निर्ग्रन्थों अर्थात् जैन धर्मानुयायियों की धार्मिक सभा हेतु देने का उल्लेख मिलता है परन्तु बाद में यह श्रेष्ठि जब बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया तो बौद्ध भिक्षु इस उद्यान का उपयोग करने लगे।[251] प्रथम मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त के बारे में यह प्रसिद्धि है कि उसने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और बाद में मौर्य राजाओं ने भी जैन धर्म को विशेष प्रोत्साहन दिया।[252] चौथी शताब्दी ई० पूर्व में अयोध्या जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था तथा क्षेत्र के व्यापारी समुदाय की इस धर्म के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।

सन् 1975-76 में प्रो० बी० बी० लाल को अयोध्या स्थित रामकोट का उत्खनन करते हुए एक जैन मूर्ति भी उपलब्ध हुई।[253] कायोत्सर्ग मुद्रा में रचित इस जैन केवली की मूर्ति का समय चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व निर्धारित किया गया है और अब तक प्राप्त जैन मूर्तियों में सर्वाधिक प्राचीन मूर्ति मानी जाती है। जैन ग्रन्थ 'बृहत्कल्पभाष्य' से भी यह ज्ञात होता है कि यहां जीवन्त स्वामी की प्रतिमा विद्यमान थी।[254] सन् 1870 में रायबरेली, अवध के कमिश्नर पैट्रिक कार्नेगी ने अपनी रिपोर्ट में दो जैन मूर्तियों के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचना दी है। नग्न एवं चक्र चिह्न से अंकित होने के कारण इन मूर्तियों की पहचान आदिनाथ तीर्थङ्कर की मूर्तियों के रूप में की गई है।[255] कार्नेगी के अनुसार सन् 1850 ई० में किसी बैरागी को गोमती नदी के किनारे से ये मूर्तियां मिलीं थीं। पुरातत्त्ववेत्ता जनरल कनिंघम को भी इन मूर्तियों के चित्र भेजे गए थे। बाद में इन्हें फैजाबाद के स्थानीय संग्रहालय में सुरक्षित रख दिया गया था।[256] पुरातत्त्ववेत्ता फुहरर ने 1891 में प्रकाशित अयोध्या सम्बन्धी रिपोर्ट में इन मूर्तियों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त फैजाबाद संग्रहालय में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की भी दो मूर्तियां विद्यमान थीं जिनका समय 7वीं-8वीं शताब्दी ई० के लगभग माना जाता है।[257]

3.1 स्वर्गघाट का आदिनाथ मन्दिर

कार्नेगी ने अपनी रिपोर्ट में अयोध्या के उत्तर तथा स्वर्गघाट के दक्षिण की ओर स्थित भगवान् आदिनाथ के एक प्राचीन मन्दिर का भी उल्लेख किया है। जिसे 12वीं शताब्दी ई० में हुए मौहम्मद गौरी के आक्रमण के समय एक मुस्लिम धर्मान्ध अधिकारी ने ध्वस्त कर दिया था। ऐसा माना जाता है कि मकदूम शाह जुरान गौरी नामक इस अधिकारी ने जैन मन्दिर को तोड़ा और उसके बाद वहां अपना मकबरा बनवा दिया। तभी से यह आदिनाथ मन्दिर का टीला 'शाहजूरान टीले' के नाम से जाना जाता है। यहां स्थित जैन मन्दिर का निर्माण 5वीं से 12वीं शताब्दी ई० के मध्य हुआ था।[258] सन् 1891 में प्रकाशित ए० फुहरर की अयोध्या सम्बन्धी पुरातात्त्विक रिपोर्ट भी इस तथ्य की पुष्टि करती है कि शहाबुद्दीन गौरी के साथ आए मुस्लिम आक्रान्ता मकदूम शाह जूरान गौरी ने आदिनाथ के जैन मन्दिर को ध्वस्त किया और उन अवशेषों पर मुस्लिम कब्रों और मस्जिद आदि का निर्माण करवाया। स्थानीय मुस्लिम परम्परा के अनुसार उसी शाह जूरान गौरी के नाम से इस टीले का नाम 'शाहजूरान टीला' प्रसिद्ध हुआ।[259]

3.2 'विविधतीर्थकल्प' में अयोध्यातीर्थ

अयोध्या के जैन तीर्थों के सम्बन्ध में आचार्य जिनप्रभसूरि द्वारा रचित 'विविध तीर्थकल्प' अपर नाम 'कल्पप्रदीप' चौदहवीं शताब्दी ई० का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अयोध्या तीर्थ के पर्यायवाची नाम जैसे अउज्झा, अवज्झा, कोसला, विणीया (विनीता), साकेयं (साकेत), इक्खागुभूमी (इक्ष्वाकुभूमि), रामपुरी, कोसल आदि का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार के अनुसार यहां ऋषभ, अजित, अभिनन्दन, सुमति और अनन्त इन पांच तीर्थङ्करों और महावीर स्वामी के नवें गणधर अचल भ्राता का भी जन्म हुआ था। रघुवंश के राजा दशरथ, राम और भरत की यह राजधानी रह चुकी थी तथा विमलवाहन आदि सात कुलकरों की भी यही जन्मभूमि थी।[260] यहां के निवासी अत्यन्त विनम्र स्वभाव के थे इसलिए इस नगरी की 'विनीता' के रूप में प्रसिद्धि हुई।[261]

ग्रन्थकार जिनप्रभसूरि ने 'विविध तीर्थकल्प' में अयोध्या के जैन एवं हिन्दू तीर्थों का वर्णन किया है। तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पिता नाभिराज का यहां मन्दिर था। पाश्र्वनाथ वाटिका, सीताकुण्ड, सहस्रधारा, मत्तगयंद यक्ष आदि प्रसिद्ध दर्शनीय स्थलों का भी उन्होंने उल्लेख किया है।[262] इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जिनप्रभसूरि ने प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की शासन देवी 'चक्रेश्वरी' और उनसे सम्बद्ध 'गोमुख' नामक यक्ष की प्रतिमा का उल्लेख किया है किन्तु जिन भगवान् आदिनाथ को ये शासन देव और देवियां समर्पित होतीं हैं उनके आराध्य देव आदिनाथ की मुख्य प्रतिमा का उल्लेख नहीं किया।[263] यह आश्चर्यपूर्ण लगता है कि इक्ष्वाकुभूमि के महानायक की सेवक-सेविकाओं का तो वर्णन कर दिया जाए और चैत्यालय विज्ञान की दृष्टि से मुख्य आराध्य भगवान् आदिनाथ के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जाए। ग्रन्थकार जिनप्रभसूरि 'घघ्घरदह' (घाघरा) और 'सरऊनई' (सरयू नदी) के संगम पर स्थित स्वर्गद्वार नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान का उल्लेख तो करते हैं किन्तु निकटस्थ आदिनाथ के मन्दिर के बारे में मौन रहना ही उचित मानते हैं।[264] कारण स्पष्ट है कि चौदहवीं शताब्दी ई० के काल में जब जिनप्रभसूरि ने 'विविधतीर्थकल्प' की रचना की थी तो उस समय भगवान् आदिनाथ का मन्दिर वस्तुतः ध्वस्त हो चुका था। उसके खण्डहरों के अवशेषों में चैत्यालय की गौण मूर्तियां तो शेष रहीं थीं किन्तु मुख्य मूर्ति 'आदिनाथ' का कोई नामोनिशान नहीं रहा था। यही कारण है कि आचार्य जिनप्रभ सूरि ने भगवान् आदिनाथ के मन्दिर का उल्लेख नहीं किया। 'विविध

तीर्थकल्प' में भगवान् आदिनाथ के उल्लेख नहीं होने का यही कारण हैन्स बेकर ने भी स्वीकार किया है।[265]

कार्नेगी द्वारा बारहवीं शताब्दी में मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा शाहजूरान टीले में स्थित आदिनाथ के मन्दिर को ध्वस्त करने की जो सूचना दी गई है उसी सन्दर्भ में जिनप्रभसूरि द्वारा 'विविधतीर्थकल्प' में वर्णित 'देवेन्द्रसूरि कथानक' पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

आचार्य जिनप्रभ के अनुसार देवेन्द्रसूरि नामक किसी मुनि ने अपनी मन्त्रविद्या के दिव्य प्रभाव से अयोध्या की चार जैन मूर्तियों को आकाशमार्ग द्वारा 'सेरीसयपुर' में पहुंचा दिया था।[266] उल्लेखनीय है कि इन देवेन्द्रसूरि की पहचान नागेन्द्रगच्छीय जैनाचार्य के रूप में की गई है[267] तथा बारहवीं शती का अन्त और तेरहवीं शती का प्रारम्भ इनका स्थिति काल स्वीकार किया जाता है।[268] 'सेरिसयपुर' गुजरात प्रान्त में गान्धीनगर स्थित वर्तमान 'सेरिसपुर' नामक एक जैन तीर्थ है।[269] स्पष्ट है 'विविधतीर्थकल्प' के इस देवेन्द्रसूरि प्रसंग द्वारा अयोध्या के जैन मन्दिरों से जिनमूर्तियों के स्थानान्तरण की घटनाएं संकेतित हैं। हैन्स बेकर के मतानुसार अयोध्या से जैन मूर्तियों के स्थानान्तरण का उल्लेख इस ओर इङ्गित करता है कि उस समय मुस्लिम मूर्ति-भञ्जकों के भय से जैन मूर्तियों को अन्यत्र सुरक्षित स्थानों की ओर ले जाया जा रहा था। हैन्स बेकर ने गोमती नदी के तट से पाई जाने वाली आदिनाथ की दो मूर्तियों का सम्बन्ध भी इसी स्थानान्तरण के धरातल पर देखने का प्रयास किया है।[270]

3.3 जैन साहित्य में अयोध्यातीर्थ की महिमा

वस्तुतः जैन साहित्यकार विभिन्न युगों में एक पावन तीर्थस्थली के रूप में अयोध्या के महत्त्व को रेखाङ्कित करते आए हैं। जैन आगम ग्रन्थों में अयोध्या का साएय, सागेय (साकेत), अउज्झा (अयोध्या), कोसल, विणीया (विनीता), इक्खागुभूमि (इक्ष्वाकुभूमि) के रूप में उल्लेख मिलता है। हैन्स बेकर ने इस सन्दर्भ में अयोध्या के प्राकृत पर्यायवाची पाठों की एक तुलनात्मक सारिणी भी प्रस्तुत की है।[271] तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई० के लेखक संघदास गणि वाचक की रचना 'वसुदेवहिण्डी' में श्रावस्ती जनपद के उत्तर की ओर कोसल जनपद की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करते हुए उसमें श्रेष्ठतम नगर के रूप में 'साकेत' नगरी का उल्लेख मिलता है।[272]

यतिवृषभ (पांचवीं सदी) ने साकेत अथवा अयोध्या को पांच तीर्थङ्करों की जन्मभूमि के रूप में महामण्डित किया है।[273] रविषेणाचार्य (677 ई०) के

'पद्मपुराण', सर्ग 98 में रामचन्द्र द्वारा सीता को तीर्थङ्करों के जिन जन्मस्थानों को तीर्थतुल्य वन्दनीय बताया गया है उनमें ऋषभादि जिनेन्द्रों का जन्म होने के कारण विनीता (अयोध्या) का विशेष रूप से उल्लेख है -

अगदीत प्रथमं सीते गत्वाष्टापदपर्वतम्।
ऋषभं भुवनानन्दं प्रणस्याव: कृतार्चनौ।।
अस्यां ततो विनीतायां जन्मभूमिप्रतिष्ठिता:।
प्रतिमा ऋषभादीनां नमस्याव: सुसंपदा।।[274]

जटासिंह नन्दी (सातवीं सदी ईस्वी) ने अपने 'वराङ्गचरित' महाकाव्य में पांच तीर्थङ्करों की जन्मभूमि के रूप में साकेतपुरी (अयोध्या) को वन्दनीय बताया है -

आद्यौ जिनेन्द्रस्त्वजितो जिनश्च अनन्तजिच्चाप्यभिनन्दनश्च।
सुरेन्द्रवन्द्य: सुमतिर्महात्मा साकेतपुर्यां किल पञ्चजाता:।।[275]

इनके अतिरिक्त जिनसेन के 'हरिवंशपुराण,'[276] गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' में भी जैन धर्म की पूर्वोक्त परम्परा के सन्दर्भ में 'अयोध्या' को तीर्थस्थान के रूप में पुण्य क्षेत्र माना गया है।[277] 'पद्मपुराण', 'हरिवंशपुराण' और 'उत्तरपुराण' के अनुसार अयोध्या को जैन धर्म के चक्रवर्ती राजाओं भरत और सगर की राजधानी होने का गौरव प्राप्त है।[278] गुणभद्र के कथनानुसार मघवा, सनत्कुमार और सुभौम चक्रवर्ती भी अयोध्या में ही हुए थे।[279] कौशलेश दशरथ और रामचन्द्र यहीं राज्य करते थे। काष्ठासंघ नदीतटगच्छ के भट्टारक श्रीभूषण के शिष्य ज्ञानसागर (16वीं-17वीं सदी) ने अपने ग्रन्थ 'सर्वतीर्थवंदना' में कोशल देश अयोध्या तथा वहां स्थित जैन मन्दिरों का भव्य वर्णन किया है।[280]

3.4 अयोध्या के प्रसिद्ध जैन मन्दिर

अयोध्या से सम्बन्धित उपर्युक्त पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह विदित होता है कि सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी तक यहां विशाल जैन मन्दिरों का निर्माण हो चुका होगा। श्री एच० आर० नेविल ने 'संयुक्त प्रान्त आगरा एवं अवध' के स्थानीय गजेटियर में संवत् 1781 तक पांच तीर्थङ्करों के नाम से निर्मित होने वाले पांच दिगम्बर जैन मन्दिरों का उल्लेख किया है।[281] सन् 1900 में प्रकाशित नगेन्द्रनाथ वसु द्वारा संकलित 'हिन्दी विश्वकोश'[282] तथा सन् 1932 में प्रकाशित लाला सीताराम के 'अयोध्या के इतिहास'[283] से भी पांच प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिरों की पुष्टि होती है। सन् 1891 में प्रकाशित फुहरर की पुरातात्त्विक रिपोर्ट से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि संवत् 1781 तक अयोध्या में पांच दिगम्बर जैन मन्दिरों का निर्माण हो चुका था और संवत् 1881

में भगवान् अजितनाथ के श्वेताम्बर जैन मन्दिर का निर्माण हुआ।[284] इन्हीं ऐतिहासिक सन्दर्भ ग्रन्थों के अनुसार अयोध्या में विद्यमान प्राचीन जैन मन्दिरों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है[285] -

1. आदिनाथ का मन्दिर - यह मन्दिर स्वर्गद्वार के पास मुराई टोले में एक ऊंचे टीले पर है जो शाहजूरान के टीले के नाम से प्रसिद्ध है। मन्दिर के निकट मुसलमानों की कितनी ही कब्रें और एक मस्जिद है। मन्दिर में तीर्थङ्कर आदिनाथ के चरणचिह्न बने हैं जिनके दर्शनार्थ यहां तीर्थ यात्री आते हैं।

2. अजितनाथ का मन्दिर - यह मन्दिर इटौआ (सप्तसागर) के पश्चिम में है। इसमें एक मूर्ति और शिलालेख भी है। इस मन्दिर का निर्माण संवत् 1781 में नवाब शुजाउद्दौला के खजानची केसरी सिंह ने नवाब की आज्ञानुसार करवाया था।

3. अभिनन्दननाथ का मन्दिर - सराय के निकट है। यह मन्दिर भी संवत् 1781 से पहले बन चुका था।

4. सुमतिनाथ का मन्दिर - रामकोट के भीतर है। अवध गजेटियर के अनुसार इस मन्दिर में पार्श्वनाथ की दो और नेमिनाथ की तीन मूर्तियां हैं।

5. अनन्तनाथ का मन्दिर - यह मन्दिर गोलाघाट नाले के पास एक ऊंचे टीले पर है। इसका प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोहर है। इन सभी प्राचीन जैन मन्दिरों में तीर्थङ्करों के चरणचिह्न बने हैं जिनकी वन्दना करने के लिए प्रतिवर्ष हजारों तीर्थयात्री आते हैं।

6. आदिनाथ का मन्दिर (रायगंज) - उपर्युक्त प्राचीन जैन मन्दिरों के अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी में भी अनेक जैन मन्दिरों और यात्री धर्मशालाओं का अयोध्या में निर्माण हुआ है। स्टेशन से डेढ़ कि० मी० दूर रायगंज मोहल्ले में एक विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर का निर्माण जैन धर्माचार्य आचार्य श्री देशभूषण जी की प्रेरणा से हुआ। 'आस्था और चिन्तन' के प्रबन्ध सम्पादक श्री सुमत प्रसाद जैन के अनुसार आचार्य श्री देशभूषण जी की प्रेरणा के अनुरूप मकराना के श्वेत संगमरमर की 33 फुट ऊंची भगवान् आदिनाथ की भव्य मूर्ति अयोध्या के लिए विशेष रूप से बनाई गई थी। मूर्ति इतनी मनोज्ञ एवं आकर्षक थी कि महान् उद्योगपति सेठ जुगल किशोर जी बिड़ला इस मूर्ति को दिल्ली स्थित बिड़ला मन्दिर में स्थापित करने की इच्छा रखते थे। सन् 1965 में मूर्ति-प्रतिष्ठा तथा पंचकल्याणक महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आचार्य श्री देशभूषण जी संघ सहित अयोध्या पधारे तथा हिन्दू समाज एवं जैन समाज के पारस्परिक सद्भाव के वातावरण में मूर्ति-प्रतिष्ठा का आयोजन सम्पन्न कराया।[286]

इस प्रकार इक्ष्वाकुभूमि अयोध्या का इतिहास साक्षी है कि भगवान् आदिनाथ के काल से ही वैदिक तथा श्रमण संस्कृति का साझा इतिहास भारतवर्ष की 'गंगा-जमुनी' संस्कृति को सुदृढ़ करता आया है। धार्मिक सद्भाव की यह ऐतिहासिक धरोहर अयोध्या आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के 'सर्वतीर्थवन्दना' के स्वरों से आज पुण्यक्षेत्र के रूप में अपनी गाथा स्वयं बखान कर रही है -

कोशल देश कृपाल नयर अयोध्या नामह ।
नाभिराय वृषभेश भरत राय अधिकारह ॥
अन्य जिनेश अनेक सगर चक्राधिप मंडित ।
दशरथ सुत रघुवीर लक्ष्मण रिपुकुल खंडित ।
जिनवर भवन प्रचंड तिहां पुण्यक्षेत्र जागी जाणिये ।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति श्री जिनवृषभ वखाणिये ॥[287]

सन्दर्भ :

1. अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-2, पृष्ठ 572
2. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 5.6; वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.8
3. आदिपुराण, 16.264; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2.656-59
4. मोहन चन्द, 'जैन प्राच्य विद्याएं' (सम्पादकीय लेख) 'जैन प्राच्य विद्या' खण्ड, 'आस्था और चिन्तन' - आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रधान सम्पादक रमेश चन्द्र गुप्त, पृष्ठ 6
5. मुनि सुशील कुमार, 'जैन धर्म का इतिहास', कलकत्ता, संवत् 2016, पृष्ठ 3
6. आचार्य देवेन्द्र मुनि, 'वैदिक साहित्य में ऋषभदेव' (लेख), 'णाणसायर' : 'द ओशन ऑफ इन्डोलॉजी', तीर्थङ्कर ऋषभ अंक, दिसम्बर, 1994, पृष्ठ 71
7. आदिपुराण, 12.76-79
8. नेमिचन्द्र शास्त्री, 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', वाराणसी, 1968, पृ० 136-37
9. विष्णुपुराण, 1.13.1-39
10. न हि पूर्वविसर्गे वै विषमे पृथिवीतले।
प्रविभागः पुराणां वा ग्रामाणां वा पुराऽभवत्।।
न सस्यानि न गोरक्ष्यं न कृषिर्न वणिक्पथः।
वैन्यात्प्रभृति मैत्रेय सर्वस्यैतस्य सम्भवः।। (वही, 1.13.83-84)
11. वही, 2.1.5-14
12. वही, 2.1.15-18, 32
13. ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः।
कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान्मखान्।।
अभिषिच्य सुतं वीरं भरतं पृथिवीपतिः।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रमं ययौ।। (वही, 2.1.28-29)
14. पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते।
यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा।। (वही, 2.3.21)

15. अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
    यतो हि कर्मभूरेषां ह्यतोऽन्या भोगभूभय:।। (वही 23.22)
16. वही, 2.3.24-25   17. वही, 2.1.15-23   18. वही, 2.1.27
19. भागवतपुराण, 5.4.8-9   20. वही, 5.4.10-12
21. इति भागवतधर्मदर्शना नवमहाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं वसुदेवनारद-संवादमुपशामायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्याम:। यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेया: पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीला: कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवु:।। (भागवतपुराण, 5.4.12-13)
22. 'यशस्वती सुनन्दाख्ये स एव पर्यणीनयत्'। (आदिपुराण 15.70)
23. मुनि सुशील कुमार, 'जैन धर्म का इतिहास', पृ. 13
24. भागवतपुराण, 5.4.8   25. आदिपुराण, 16.4-8   26. वही, अध्याय 35-36
27. मुनि सुशील कुमार, 'जैन धर्म का इतिहास', पृ. 24
28. विष्णुपुराण, 2.13.7-9   29. वही, 2.13.12-36
30. वही, 2.13.37-40   31. वही, 2.13.40-43
32. 'आत्मानं दर्शयामास जडोन्मत्ताकृतिं जने।' (वही, 2.13.44)
33. वही, 2.13.52-53   34. आदिपुराण, 18.54-59
35. मरीचिश्च गुणेर्नप्ता परिव्राड् भूयमास्थित:।
    मिथ्यात्ववृद्धिमकरोदपसिद्धान्तभाषितै:।
    तदुपज्ञमभूद् योगशास्त्रं तन्त्रं च कापिलम्।
    येनायं मोहितो लोक: सम्यग्ज्ञानपराङ्मुख:।। (आदिपुराण, 18.61-62)
36. भागवतपुराण, 5.4.11-13   37. आदिपुराण, 18.61-62
38. विष्णुपुराण, 2.13.53-54   39. वही, 2.1.5-14
40. वही, 1.13.1-9   41. पद्मपुराण, 5.4-9; हरिवंशपुराण, 13.7-11
42. भागवतपुराण, 5.3.20
43. 'The study enables us to observe the extraordinary manner in which a Vaisṇava apologist while denouncing the Jain faith, appropriates the central figure of that religion by the device of the doctrine of avatāra.' - पद्मनाभ एस० जैनी, 'जिन ऋषभ एंज़ एन अवतार ऑफ विष्णु' (लेख), 'णाणसायर', तीर्थङ्कर ऋषभ अंक, दिल्ली, 1994, पृष्ठ 314
44. 'It appears highly probable thereof that it was the author of the Bhāgvatapurāṇa who with great ingenuity brought the three terms (vātaraśanā munayaḥ, śramaṇa and paramahaṃsa) together and applied them with considerable advantage to the life of Ṛṣabha who was widely worshipped among the śramaṇas of his time.' - वही, पृष्ठ 324
45. वही, पृष्ठ 323
46. 'The word ṛṣabha is no doubt of common occurrence in the Vedic hymns, but contrary to the belief of many modern Jain apologists, there is no conclusive evidence to show that it was ever used as substantive or as a name of a person.' - वही, पृष्ठ 324

47. आचार्य देवेन्द्र मुनि, 'वैदिक साहित्य में ऋषभदेव' (लेख) 'णाणसायर', पृष्ठ 81; गोकुल प्रसाद जैन, 'पुराणों में श्रमण परम्परा' (लेख) 'पुराणों में राष्ट्रीय एकता', सम्पा० पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1990, पृष्ठ 214.
48. सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10.136.1
49. "आचार्य सायण ने 'केश स्थानीय किरणों का धारक' कहकर 'सूर्य' अर्थ निकाला है। प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधना का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती।" - आचार्य देवेन्द्र मुनि, 'वैदिक साहित्य में ऋषभदेव', पूर्वोक्त, पृष्ठ 81.
50. हीरालाल जैन, 'युग-युगान्तरों में जैन धर्म', ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ० 22
51. ऋग्वेद, 10.136.2
52. वही, 10.136.1
53. 'वातरशनाः वातरशनस्य पुत्राः मुनयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतयः पिशङ्गा पिशङ्गानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति।' (सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10.136.2)
54. हीरालाल जैन, 'युग-युगान्तरों में जैन धर्म', पृष्ठ 24
55. ऋग्वेद, 10.136.7
56. 'सूर्यमण्डले घनीभूतमस्य तदुदकं वायुरूपमथ्नाति। मन्थनेन वैद्युताग्निनालोडयति।' (सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10.136.7)
57. सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10.166.1
58. ऋषभं मा समानानां सप्तनानां विषासहितम्।
हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्।। (ऋग्वेद, 10.166.1)
59. वही, 10.166.5
60. तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः।। (ऋग्वेद, 10.90.5)
61. उत्तिष्ठतस्तस्य जलार्द्रकुक्षेर्महावराहस्य महीं विगृह्य।
विधुन्वतो वेदमयं शरीरं रोमान्तरस्था मुनयः स्तुवन्ति।। (विष्णुपुराण, 1.4.29)
62. ब्रह्मरूपधरो देवस्ततोऽसौ रजसा वृतः।
चकार सृष्टिं भगवांश्चतुर्वक्त्रधरो हरिः।। (वही, 1.4.50)
63. महाभारत, शान्तिपर्व, 59.88-89
64. विष्णुपुराण, 1.4.50
65. ततो ब्रह्माऽऽत्मसम्भूतं पूर्वं स्वायम्भुवं प्रभुः।
आत्मानमेव कृतवान् प्रजापाल्यं मनुं द्विज।।
शतरूपां च तां नारीं तपो निर्धूतकल्मषाम्।
स्वायम्भुवो मनुर्देवः पत्नित्वे जगृहे प्रभुः।। (वही, 1.7.16-17)
66. हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः।। (वही, 2.1.27)
67. महाभारत, शान्तिपर्व, 59.89
68. वही, 59.90
69. ऋग्वेद, 10.166.5
70. आदिपुराण, 25.112
71. वही, 25.171
72. वही, 15.222, 25.171
73. वही, 25.131
74. वही, 25.131
75. वही, 25.100
76. पद्मनाभ एस. जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज़ एन अवतार ऑफ विष्णु', पूर्वोक्त, पृ० 324
77. सायणभाष्य, ऋग्वेद, 3.13.1
78. ऐतरेयब्राह्मण, 7.17

79. ऐतरेयब्राह्मण, 7.18 80. ऋग्वेद, 3.14.1-2
81. विद्युद्रथ: सहसस्पुत्रो अग्नि: शोचिष्केश: पृथिव्यां पाजो अश्रेत्।। (वही, 3.14.1)
82. अद्रिभि: सुत: पवते गभस्त्योर्वृषायते नभसा वेपते मती।
स मोदते नसते साधते गिरा नेनिक्ते अप्सु, यजते परीमणि।। (वही, 9.71.3)
83. अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्। (अथर्ववेद, 19.42.4)
84. ऋग्वेद, 1.126.2 85. अथर्ववेद, 10.5.18 86. ऋग्वेद, 2.33.
87. वही, 2.33.4 88. वही, 2.33.8 89. वही, 2.33.6
90. वही, 2.33.15 91. वही, 2.33.15
92. गोकुल प्रसाद जैन, 'ऋषभदेव : हिरण्यगर्भ सूक्त के आराध्य', पूर्वोक्त, पृष्ठ 107-8
93. 'हिरण्यगर्भ: - कशब्दाभिधेय: प्रजापतिर्देवता।' - सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10-121.1
94. ऋग्वेद, 10.121.1 95. वही, 10.121.7 96. वही, 10.121.10
97. गोकुल प्रसाद जैन, 'ऋषभदेव : हिरण्यगर्भ सूक्त के आराध्य', पूर्वोक्त, पृष्ठ 111
98. ऋग्वेद, 10.121.1
99. सांख्यस्य वक्ता कपिल: परमर्षि स: उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्य: पुरातन:।। - महा०, शान्ति०, पूना संस्करण, 337.60
100. पातंजलयोगसूत्रवृत्ति, 1.1
101. महाभारत, शान्तिपर्व, 342.96 102. भागवतपुराण, 5.4.12 13
103. "What distinguishes the Bhāgavata legend is the glorification of the Brāhman caste through Ṛsabha conspicuous by its absence in the Jain account. The Lord Viṣṇu agrees to be born as the son of Nābhi to make that the words of the ṛtviks are not made futile as they are his mouth" पद्मनाभ, एस० जैनी, 'जिन ऋषभ एज़ एन अवतार ऑफ विष्णु', पूर्वोक्त, पृष्ठ 322
104. जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,' वाराणसी, 1965, पृष्ठ 29-30
105. वही, पृष्ठ 28
106. मुनि सुशील कुमार, 'जैन धर्म का इतिहास', पृष्ठ 3
107. मोहन चन्द, 'भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में जैन महाकाव्यों द्वारा विवेचित मध्यकालीन जैनेतर दार्शनिकवाद' (लेख), 'जैनदर्शनमीमांसा' खण्ड, 'आस्था और चिन्तन,' पूर्वोक्त, पृष्ठ 153-54
108. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।। मुण्ड०, 1.2.7
109. अविद्यायामन्तरे वर्तमाना: स्वयं धीरा: पण्डितं मन्यमाना:।
जङ्घन्यमाना: परियान्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:।। - मुण्ड० 1.2.8
110. कठोपनिषद्, 1.1.1-4 111. केनोपनिषद्, तृतीय खण्ड
112. दामोदर शास्त्री, 'जैनधर्म एवं आचार' (सम्पादकीय लेख), 'जैनधर्म एवं आचार' खण्ड, 'आस्था और चिन्तन', पूर्वोक्त, पृष्ठ 3
113. दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रम:। - कुमारसम्भव, 5.45
114. "The Jainization of Brahmā in the person of Ṛsabha and the consequent

vaiṣṇavization of that Jina through the device of the avatāra is a fine example of a vain drive towards the syncretism of two rival faiths." - पद्मनाभ, एस० जैनी, 'जिन ऋषभ एंज़ एन अवतार ऑफ, विष्णु', पूर्वोक्त, पृष्ठ 332

115. वही, पृष्ठ 327
116. जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,' पृष्ठ 493
117. पद्मनाभ, एस० जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज़ एन अवतार ऑफ विष्णु', पूर्वोक्त, पृष्ठ 325-26
118. वही, पृष्ठ 326
119. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, 'आदिपुराण' (प्रथम भाग), प्रस्तावना, पृष्ठ 15
120. फ़ादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1971, पृष्ठ 65
121. सीसेण तस्स रइयं, राहवचरियं तु सूरिविमलेणं।
सोऊणं पुव्वगए नारायण-सीरिचरियाइं।। - पउमचरिय, 118.118
122. फ़ादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 65
123. पउमचरिय, 118.102-3
124. फ़ादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 63-64
125. पद्मपुराण, 76.33-34; उत्तरपुराण, 68.628-29
126. "But that the story was first told by Lord Mahāvīra himself is difficult to believe. For in the Jain canon we do not find the story of Rāma recorded anywhere, although the story of Kriṣṇa who lived centuries after Rāma - according to the statement of the Jain writers themselves - occurs in Antagddadasāo." - वी० एम० कुलकर्णी, 'पउमचरिय', प्रस्तावना, भाग-1, पृष्ठ 6
127. वही, पृष्ठ 6
128. आदिपुराण, सर्ग 162; पद्मपुराण, 5.74-75; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2.902-911
129. तैत्तिरीयब्राह्मण, 1.7.7.41-45; ऐतरेयारण्यक, 5.1-3
130. विष्णुपुराण, 4.4.5-22; ब्रह्माण्डपुराण, मध्यभाग, सर्ग 48-55; हरिवंशपुराण, सर्ग 13; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व 2, सर्ग 4-5
131. विष्णुपुराण, 44.29-37
132. पद्मपुराण, 5.74
133. विष्णुपुराण, 4.4.22
134. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 2.5.157-78
135. असृज्योऽयमसंहार्यः स्वभावनियतास्थितिः।
अधस्तिर्यगुपर्याख्यैस्त्रिभिर्भेदैः समन्वितः।। - आदिपुराण, 4.40
136. वही, 4.47
137. जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,' पूर्वोक्त, पृष्ठ 456
138. आदिपुराण, 4.48-50
139. नेमिचन्द्र शास्त्री, 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत,' वाराणसी, 1968, पृष्ठ 38
140. जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,' पृष्ठ 456
141. आदिपुराण, 4.48-49
142. जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', पृष्ठ 456-57
143. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 1-10; तिलोयपण्णत्ति, 4.107, 266; राजवार्तिक, 3.10.3, 171.13; सर्वार्थसिद्धि, 3.10.213.6

144. राजवार्त्तिक, 3.10.1.171.6
145. जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', पृष्ठ 469
146. वही, पृष्ठ 468-469
147. नेमिचन्द्र शास्त्री, 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', पृष्ठ 55
148. जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज', पृष्ठ 458
149. बृहत्कल्पसूत्र, 1.50
150. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 378
151. रमेश चन्द्र गुप्त तथा सुमत प्रसाद जैन, 'आस्था और चिन्तन' - आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, आस्था खण्ड, 'कालजयी व्यक्तित्व', पृ० 27
152. आदिपुराण, 12.3-4
153. वही, 12.3-6-101
154. वही, 12.84-101
155. वही, 12.70-72
156. 'संचस्करुश्च तां वप्रप्राकारपरिखादिभि:।' - वही, 12.76
157. 'अयोध्यां न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभि: सुरा:॥' - वही, 12.76
158. साकेतरूढिरप्यस्या: श्लाघ्यैव स्वैर्निकेतनै:।
स्वनिकेतमिवाह्वातुं साकूतै: केतुबाहुभि:॥ - वही, 12.77
159. सुकोशल्लेति च ख्यातिं सा देशाभिख्या गता।
विनीतजनताकीर्णा विनीतेति च सा मता॥ - वही, 12.78
160. वही, 12.79-80
161. 'षड्भिर्मासैरथैतस्मिन् स्वर्गादवतरिष्यति।' - वही, 12.84
162. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2.905
163. वही, 1.2.906-8
164. वही, 1.2.911-12
165. वही, 1.2.914-16
166. वही, 1.2.917-23
167. 'तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदु:॥' - अथर्ववेद, 10.32
168. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2.913
169. आदिपुराण, 12.84
170. आदिपुराण, 12.85
171. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 355
172. पार्जीटर, 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 145
173. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2.905-12
174. स एष धर्मसर्गस्य सूत्रधारं महाधिपम्।
इक्ष्वाकुज्येष्ठमृषभं क्वाश्रमे ममजीजनत्॥ - आदिपुराण, 12.5
175. पुत्रानपि तथा योग्यं वस्तुवाहनसंपदा।
भगवान् संविधत्ते स्म तद्धि राज्योब्जने फलम्॥
आकानाच्च तदेक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम्।
इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतमभिसंमत:॥ - वही, 16.263-64
176. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2.654-59
177. पउमचरिय, 3.111
178. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 355
179. हरिवंशपुराण, 13.33
180. 'अयमादित्यवंशस्ते कथित: क्रमतो नृप:।', - पद्मपुराण, 5.10
181. हरिवंशपुराण, 13.16; पद्मपुराण, 5.10
182. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 355, 358

183. 'इक्ष्वाकु: प्रथमस्तेषामुन्नतो लोकभूषण:।' - पद्मपुराण, 5.2
184. पद्मपुराण, 5.1-3 185. पउमचरिय, 5.3-9 186. पद्मपुराण, 5.4-9
187. हरिवंशपुराण, 13.7-11 188. पउमचरिय, 5.4
189. पउमचरिय, 5.3; पद्मपुराण, 5.4; हरिवंशपुराण, 13.7
190. पउमचरिय, 5.4; पद्मपुराण, 5.5; हरिवंशपुराण, 13.8
191. पउमचरिय, 5.5; पद्मपुराण, 5.6; हरिवंशपुराण, 13.9
192. 'तपनोऽन्य: प्रतापवान्' - हरिवंशपुराण, 13.9; 'तेयस्सी तावणो पयावी य' - पउमचरिय, 5.5; 'तेजस्वी तपनोऽथ प्रतापवान्' - पद्मपुराण, 5.6
193. हरिवंशपुराण, 13.13-14
194. अस्य नाभेयचिह्नस्य युगस्य विनिवर्तने।
हीना: पुरातना भावा: प्रशस्ता अत्र भूतले।।
शिथिलायितुमारब्धा परलोकक्रियारति:।
कामार्थयो: समुत्पन्ना जनस्य परमा मति:। - पद्मपुराण, 5.57-58
195. वही, 5.59 196. वही, 5.60-61 197. वही, 5.63
198. कनीयान् जितशत्रोस्तु ख्यातो विजयसागर:।
पत्नी सुमङ्गला तस्य तत्सुत: सगरोऽभवत्।। - वही, 5.74
199. वही, 5.75 200. वही, 5.248
201. 'तनय: सागरैर्जह्नो: कुर्वन् कुर्वन् राज्यं भगीरथ:।' - वही, 5.284
202. जाते विंशतिसंख्याने वर्तमानजिनान्तरे।
देवागमनसंयुक्ते विनितायामुरौ पुरि।।
विजयो नाम राजेन्द्रो विजिताखिलशात्रव:।
सौर्यप्रतापसंयुक्त: प्रजापालनपण्डित:।। - वही, 21.73-74
203. संभूतो हेमचूलिन्यां महादेव्यां सुतेजसि।
सुरेन्द्रमन्युनामाभूत्सूनुस्तस्य महागुण:।। - वही, 21.75
204. तस्य कीर्तिसमाख्यायां जायायां तनयद्वयम्।
चन्द्रसूर्यसमच्छायं तातं गुणसमर्चितम्।।
वज्रबाहुस्तयोराद्यो द्वितीयश्च पुरन्दर:।
अन्वर्थनामयुक्तौ तौ रेमाते भुवने सुखम्।। - वही, 21.76-77
205. वही, 21.140 206. वही, 21.159,164 207. वही, 22.101-2
208. इति संचिन्त्य विन्यस्य राज्येऽमृतवतीसुतम्।
नघुषाख्यं प्रवव्राज पार्श्वे विमलयोगिन:।। - वही, 22.112
209. नघुषस्य सुतो यस्मात् सुदासीकृतविद्विष:।
सौदास इति तेनासौ भुवने परिकीर्तित:।। - वही, 22.131
210. वही, 22.132-146
211. सिंहस्येव यतो मांसमाहारोऽस्याभवत्तत:।
सिंहसौदासशब्देन भुवने ख्यातिमागत:।। -वही, 22.147
212. 'कनकाभासमुत्पन्नस्तस्य सिंहरथ: सुत:।' - वही, 22.145
213. 'स जित्वा तनयं युद्धे राज्ये न्यस्य पुन: कृती।' - वही, 122.152

214. पद्मपुराण के अनुवादक डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य ने शतरथ के बाद सूर्यरथ तक पांच राजाओं के नाम अनुवाद में छोड़ दिये हैं इसलिए 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' भाग 1, पृष्ठ 355 में भी ये नाम परिगणित नहीं हो सके हैं। द्रष्टव्य : पद्मपुराण, अनुवाद, भाग-1, पृष्ठ 469
215. ततो ब्रह्मरथो जातश्चतुर्वक्त्रस्ततोऽभवत्।
तस्माद्धेमरथो जज्ञे जात: शतरथस्तत:।।
उदपादि पृथुस्तमादजस्तस्मात् पयोरथ:।।
बभूवेन्द्ररथोऽमुष्माद्दिननाथरथस्तत:।
मान्धाता वीरसेनश्च प्रतिमन्युस्तत: क्रमात्।
नाम्ना कमलबन्धुश्च दीप्त्या कमलबान्धव:।।
प्रतापेन रवेस्तुल्य: समस्तस्थितिकोविद:।।
रविमन्युश्च विज्ञेयो वसन्ततिलकस्तथा।।
कुबेरदत्तनामा च कुन्थुभक्तिश्च कीर्तिमान्।
शरभद्विरदौ प्रोक्तौ रथशब्दोत्तरश्रुती।।
मृगेशदमनाभिख्यो हिरयण्कशिपुस्तथा।
पुञ्जस्थल: ककुत्थश्च रघु: परमविक्रम:।।
इतीक्ष्वाकुकुलोद्भूता: कीर्तिता भुवनाधिपा:।
भूरिशोऽत्र गता मोक्षं कृत्वा दैगम्बरं व्रतम्।। - पद्मपुराण, 22.153-59
216. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 1, पृष्ठ 358
217. आसीत्ततो विनीतायामनरण्यो महानृप:।
अनरण्य: कृतो येन देशो वासयता जनम्।। वही, 22.160
218. पृथिवीमत्यभिख्यास्य महादेवी महागुणा।
कान्तिमण्डलमध्यस्था सर्वेन्द्रियसुखावहा।।
द्वौ सुतावुदपत्स्यातां तस्यामुत्तमलक्षणौ।
ज्येष्ठोऽनन्तरथो ज्ञेय: ख्यातो दशरथोऽनुज:।। - वही, 22.161-62
219. वही, 22.166-67
220. वही, 22.172-76
221. तरुणादित्यवर्णस्य पद्मालिङ्गितवक्षस:।
पद्मनेत्रस्य पद्माख्या पितृभ्यां तस्य निर्मिता।। वही, 25.22
'बलनामापरं मात्रा पद्मस्येति विनिर्मितम्।' - वही, 25.37
222. 'सुलक्ष्मा लक्ष्मणाख्यायां पितृभ्यामेव योजित:।' - वही, 25.26
'सुमित्रया हरिर्नाम तनयस्य महेच्छया।' - वही, 25.37
223. कृतोऽर्धचक्रिनामायं मात्रेति भरताभिधाम्।
दृष्ट्वा चक्रिणि सम्पूर्णो केकया प्रापयत् सुतम्।। - वही, 25.38
224. चक्रवर्तिध्वनिं नीतो मात्रायमिति सुप्रभा।
तनयस्यार्हतो नाम शत्रुघ्नमिति निर्ममे।। - वही, 25.39
225. विष्णुपुराण, 4.2.12-14
226. आदिपुराण, 12.5; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2.905-12
227. चतुर सेन, 'वैदिक संस्कृति : आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 93
228. पउमचरिय, 5.2-13; पद्मचरित, 5.2-13

229. पद्मपुराण, 5.248, 284; विष्णुपुराण, 4.4.1-22, 36-37

230. पद्मपुराण, 22.131 231. वही, 22.147 232. वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.175

233. ऋग्वेद, 10.133; सामवेद, 1801-1803; अथर्ववेद, 20.95.2-4

234. कुंवरलाल जैन, 'पुराणों में वंशानुक्रमिक कालक्रम', पृष्ठ 431

235. पद्मपुराण, 22.154-155 236. विष्णुपुराण, 4.4.86, 4.2.61

237. विष्णुपुराण, 4.4.87; अग्निपुराण, 5.4-5 238. पद्मपुराण, 25.19-39

239. "During the centuries under discussion a considerable body of mythology was assimilated and elaborated within Jainism, much of which did not stem from specifically Jain traditions but was already partly known from its Brahmanical version. In this amalgamation the mythology of the Ikṣvāku race was linked with the notion of *tīrthaṅkaras* and *cakravartins*, and so the first *tīrthaṅkara* Ṛṣabha is said to have been born in *ikkhagabhūmi* or Viṇīyā (Vinītā) as it is called in the *Jambūdvīpaprajñapti*. This mythological city of Viṇīyā can hardly be anything like the then Epic Sanskrit Ayodhyā under a different name. And since Sāketa was already known to Jainism as one of its holy places, hallowed by the visits of Mahāvīra, the Jainas did not hesitate to amalgamate Viṇīyā, Ikkhāga bhūmi, Aojjhā and Sāketa. This seems to have happend at the same time as the Rāma lore was incorporated into Jain Mythology, that is the early centuries of the Christian era, and it first found expression in the *Paumacariya* (not later than 4th century A.D.)"

- हैन्स बैकर, 'अयोध्या', भाग-1, एग्बर्ट फोर्सटेन, ग्रॉनिंजन, 1986, पृष्ठ 11

240. वही, पृष्ठ 11

241. नामावलियनिबद्धं आयरियपरंपरागयं सब्वं।
वोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण।। - पउमचरिय 1.8

242. एयं वीरजिणेण रामचरियं सिट्ठं महत्थं पुरा।
पच्छाऽऽखण्डलभूइणा उ कहिय सीसाण धम्मासयं।
भूओ साहुयपरपराए, सयलं लोए ठियं पायडं।
एत्ताहे विमलेण सुत्तहियं गाहानिबद्धं कयं।। - पउमचरिय, 118.102

243. नाथूराम प्रेमी, 'जैन साहित्य और इतिहास', पृष्ठ 280

244. पद्मपुराण, 5.4-9, 74, 284; 22.112-59 245. हरिवंशपुराण, 13.7-11

246. गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स।
उप्पत्ती इय पहुदी बहुभेदं खेत्तमंगलयं।। - तिलोयपण्णत्ती, 1.21

247. वही, 1.22, 526-549

248. हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 38

249. बृहत्कल्पसूत्र, 1.50

250. हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 38

251. वही, पृष्ठ 38; तथा 'मनोरथपूर्णी', 3.34-38

252. हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 38

253. 'इण्डियन आर्कियोलॉजी रिव्यू, 1976-77', आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 53, प्लेट संख्या 1 सी

254. बृहत्कल्पभाष्य, 5.5824

255. Carnegy 1870 reports the following : "I have now in my possession two elaborately carved stone images discovered some years ago on the banks of the Gomti in the village of Patna in paragana Aldemau of this district (lat. 26°-15' N, long. 82°-26'E), of which General Cunningham, to whom I sent a photograph, writes as follows : ...'particularly valuable to me for the very perfect state of preservation ... they are not however, *Büddhist*, but *Jain* figures. No Büddhist figures are ever represented as naked, and it is only the statues of the Digambar sect of the Jains that are so represented. Both figures represent the same *hierarch viz. Adinath* who is the first of the 24 *Tirthankars* of the Jains. Adinath is known by the *wheel* on the pedestal, which is represented *end on*, instead of *sideways* as in many other sculptures'. These statues, Carnegy continues, "were discovered under ground by some Bairāgis about the year 1850 A.D." - हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 39 पर उद्धृत, कार्नेगी, 1870, पृष्ठ 22

256. हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 39

257. वही, पृष्ठ 34, पाद टिप्पणी 6

258. 'However, in the north of site Ayodhyā, to the south of the present *ghat* Svargadvāra is a lofty mound with several graves (all in ruins) and crowned by what appears to be the facade of a tomb. Half way up the mound on the south eastern corner is a *digambara* temple of Adinatha, the "key of which" according to Carnegy "is kept-by a Musalmān who lives close by". Carnegy further reports : "the local Musalmān tradition is that one Makhdum Shah Juran Ghori (whose descendants still hold property in Ajudhia and take the fees at the Jain Shrine) came to Oudh at the end of the twelfth century, with Sultan Shahab-ud-din Ghori" (i.e., Muhammad Ghurī)," and rid Ajudhia of Adinath, who was a torment to the people...". The officer Makhdūm Shah Juran Ghūrī presumably destroyed the Jain temple on this site and later had his own tomb built here instead. The mound is still known under the name of Shāh Jurān Ṭīlā. This Adinātha temple may be dated between the 5th and 12th century."
- हैन्स बेकर 'अयोध्या' भाग 1, पृष्ठ 40

259. "The Temple of Ādinātha is situated near the Svarga dvāram on a mound, known as *'Shāh-Jurān-Kā Tīlā'*, on which there are many Musalmān tombs and masjid. According to the local Musalmān tradition, Makhdūm Shāh Jurān Ghori, who came to Audh with Shahab-ud-din Ghori, destroyed the ancient temple of Adinātha and erected on its ruins the Musalmān edifices which gave to the mound the name by which it is still known." - ए० फुहरर, "द मॉन्युमेन्टल एंटिक्विटीज़ एण्ड इन्सक्रिप्सन्स इन द नॉर्थ वैस्टर्न प्रॉविन्सेज़ एण्ड अवध", 'फैजाबाद डिविज़न', आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद, 1891, पृष्ठ 297

260. "अउज्झाए एगट्ठिआइं जहा - अउज्झा अवज्झा कोसला विणीया साकेयं इक्खागुभूमी रामपुरी कोसल त्ति। एसा सिरिउसभ-अजिअ-अभिनंदण-सुमई- अणंतजिणाणं तहा नवमस्स सिरिवीरगणहरस्स अयल भाउणो जम्मभूमी। रहुवंसुब्भवाणं दसरह-राम-भरहाईणं च रज्ज ट्ठाणां। विमल वाहणा इसत्तकुलगर इत्थ उप्पन्ना।।" - जिनप्रभसूरिविरचित 'विविध तीर्थकल्प', सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क 10; मुख्य सम्पादक - जिन विजय, शान्तिनिकेतन, 1931, पृष्ठ 24

261. 'तओ विणीयत्ति सा नयरी रूढ़ा।' - वही, पृष्ठ 24

262. 'जत्थ अज्ज वि नाभिरायस्स मन्दिरं। जत्थ य पासनाहवाडिया सीयाकुंडं सहस्सधारं च। पायारट्ठिओ अ मत्तगयंद जक्खो।' - वही, पृष्ठ 24

263. 'जत्थ चक्केसरी रयणमयायणट्ठि अपडिमा संघविग्धं हरेइ, गोमुहजक्खो अ।' - वही, पृष्ठ 24

264. 'जत्थ घग्घरदहो सरऊनईए समं मिलित्ता सग्गदुवारं ति पसिद्धिमावन्नो।' - वही, पृष्ठ 24

265. "From all this we conjecture that Jinaprabhasūri has avoided mentioning too explicitly the Adinātha temple near Svargadvāra, since it was no longer there at the time that he wrote." - हैन्स बैकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ट 40

266. 'कहं पुण देविंदसूरिं हि चत्तारि बिंबाणि अउज्झापुरओ आणीयाणी त्ति भणणाइ - सेरीसयनयरे विहरंता आगहिअ।' - विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ 24

267. शिव प्रसाद, 'जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन', पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1991, पृष्ठ 79-80

268. मोहनलाल दलीचन्द देसाई, 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ 341

269. शिवप्रसाद, 'जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन', पृष्ठ 78

270. "Apart from a garden dedicated to Pārsvanātha, Jinaprabhasūri does not mention any other specific Jain building in Ayodhyā. On the contrary, he describes how a certain Devendrasūri moved four Jain images through the air from Ayodhyā to a place called Sarīsaka (Serīsayanayare) by his divine power. This might hint at the removal of images for fear of Muslim iconoclasm. Could there be any connection between the Ādinātha images found along the Gomatī and this removal?" - हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 40

271. हैन्सबेकर, 'अयोध्या', भाग-1 पृष्ठ 6, सारिणी-2

272. जगदीश चन्द जैन, 'अयोध्या इन जैन ट्रेडिशन' (लेख), 'पुराण', 1994, पृ० 90

273. तिलोयपण्णत्ती, 4.526-49

274. पद्मपुराण, 98.142-43

275. वराङ्गचरित, 27.81

276. हरिवंशपुराण, 8.150

277. उत्तरपुराण, सर्ग 48

278. वी० पी० जोहारपुरकर, 'तीर्थवन्दनसंग्रह', शोलापुर, 1965, पृष्ठ 115

279. वही, पृष्ठ 105

280. सर्वतीर्थवन्दना, छप्पय 81, 'तीर्थवन्दनसंग्रह', पृष्ठ 78

281. एच० आर० नेविल, 'फैजाबाद : डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स ऑफ द युनाइटिड प्रोविन्सिज़ ऑफ आगरा एण्ड अवध', इलाहाबाद, 1905, जिल्द संख्या-43 , पृष्ठ 57-58

282. नगेन्द्र नाथ वसु, 'हिन्दी विश्वकोश', भाग-2, पृष्ठ 137
283. सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 113
284. ए० फुहरर; देखिये : सन्दर्भ 259
285. विशेष द्रष्टव्य : एच० आर० नेविल, 'फैजाबाद डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स ...', पूर्वोक्त, पृष्ठ 57-58; ए० फुहरर, 'द मॉन्यूमेंटल ...' पृष्ठ 297; नगेन्द्रनाथ वसु, 'हिन्दी विश्वकोश', भाग 2, पृष्ठ 137; सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 113; तथा 'तीर्थाङ्क', गीताप्रेस गोरखपुर, पृ० 145
286. सुमत प्रसाद जैन, 'आस्था और चिन्तन' (आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ), 'कालजयी व्यक्तित्व' खण्ड, पृष्ठ 29
287. सर्वतीर्थवन्दना, छप्पय 81, 'तीर्थवन्दनसंग्रह', पृष्ठ 78

रीडर, संस्कृत विभाग, रामजस कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
दूरभाष: 22189837

अनेकान्त दर्शन पर एक समग्र दृष्टि

इस दुनिया को हमेशा एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता रहती है जो सिर्फ बुद्धि-विलास का साधन न बने बल्कि जनोपयोगी भी हो। उस दर्शन से हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी की छोटी बड़ी समस्याओं के समाधान निकल कर आयें। हम जिन मुसीबतों के संसार में संघर्ष कर रहे हैं वह दर्शन उन समस्याओं से उबारने में हमारी मदद करे। शास्त्रों की बड़ी-बड़ी बातें जिनसे हमारी जिन्दगी से जुड़ी मूलभूत बातों से कोई सरोकार नहीं रहता, वे बातें या सिद्धान्त सिर्फ किताबों और विद्वानों के विषय बनकर रह जाते हैं। जनता को उनसे सीधा सीधा कोई लाभ नहीं होता।

एक समय था जब भारतीय दर्शन अपने ज्ञान-विज्ञान की बौद्धिकता की चरमसीमा पर था। इतने अधिक मत, सिद्धान्त तथा सम्प्रदाय हो गये थे कि उनके शास्त्रार्थो को सुनकर लगता था कि ये अपने लक्ष्य की घोषणा भले ही 'मोक्ष' करते हों किन्तु इनका मूल लक्ष्य खुद का मण्डन और दूसरों का खण्डन करना है। उन दिनों इन दार्शनिक युद्धों से भारतीय जनमानस दिग्भ्रमित हो रहा था।

ईसापूर्व छठी शताब्दी के लगभग आत्मानुभूति के प्रणेता तीर्थंकर महावीर का आत्मा को ही परमात्मा कहने वाला दर्शन भारतीय जनमानस में चर्चा का विषय बना हुआ था। वे वस्तु का स्वभाव अनन्तधर्मात्मक बतला चुके थे। उनका कहना था कि बिना समग्र दृष्टिकोण का विकास किये हम जिन्दगी को समझ ही नहीं सकते। यह उनका अनेकान्त दर्शन था जो संघर्षो की ज्वाला में शीतल जलवृष्टि करता दिख रहा था। भगवान महावीर जो वस्तु का स्वरूप समझा रहे थे उसमें लोगों को बौद्ध दशन के तत्त्व भी दिख रहे थे और सांख्य-योग के भी, वेदान्त का भी मत दिख रहा था और न्याय-वैशेषिक का भी; इस तरह जो भी दृष्टियाँ हो सकती थीं उन सभी की कुछ न कुछ बातें लोगों को उसमें दिख रही

थीं। भगवान महावीर की परम्परा में आगे के जैनाचार्यों ने समझाया कि भगवान महावीर का अनेकान्त दर्शन इतना बहु आयामी है कि उसमें कुछ भी छूटता नहीं है और सत्य यही है कि एकान्त दृष्टि से सत्य के सिर्फ एक पहलू की ही समझ आती है, सम्पूर्ण सत्य की नहीं।

यह दर्शन इतना अधिक उपयोगी लगा कि अपनी अपनी भाषा में यह बात हर दर्शन ने कही। 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' जैसा सूत्र इसी दृष्टिकोण का परिचायक है। इस विषय पर बहुत विमर्श हुआ। दार्शनिकों ने इस पर कई तरह के प्रश्न किये। जैनाचार्यो ने संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के विशाल ग्रन्थ लिखकर उन प्रश्नों के तर्कसंगत उत्तर भी दिये। यह सामग्री इतनी अधिक विशाल थी और बिखरी हुयी थी कि उनमें से अतिमहत्त्वपूर्ण चर्चाओं को एक ग्रन्थ में समाविष्ट करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। आधुनिक विद्वानों ने इस पर बहुत कार्य किया है। उसी क्रम में एक नयी कृति पढ़ने में आयी है जिसका नाम है, 'जैनदर्शन में अनेकान्तवाद : एक परिशीलन'। यह एक शोध प्रबन्ध है। इसमें महत्त्वपूर्ण यह है कि इस ग्रन्थ के लेखक जैन शास्त्रों के गहन मनीषी डॉ. अशोक कुमार जैन हैं। वे शास्त्रीय विद्वत्ता के क्षेत्र में एक ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं जो अपने गहन ज्ञान से आधुनिक युग में भी शास्त्र को सतत् आलोकित रखते हैं। उनकी अभी तक की समस्त कृतियों में यह कृति मन्दिर पर कलशारोहण के समान है।

ग्रन्थ को पढ़ने से ही लगता है कि इसकी रचना के पीछे उनका दस-बीस वर्षों का अथक श्रम है। अनेकान्त को प्रतिपादन करने वाला शायद ही कोई ऐसा विषय या पहलू हो जो इसमें छूटा हो। प्रस्तुति का अपना एक अलग अन्दाज़ है। आरम्भ में सबसे पहले अनेकान्त की आवश्यकता पर बल दिया है। दार्शनिक क्षेत्र के साथ-साथ समाज व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, राजनीति तथा आयुर्वेद शास्त्र में अनेकान्त की आवश्यकता दिखलायी है। अनेकान्त के उद्भव और विकास की चर्चा करते हुये इसके प्रभावक आचार्यों का कालक्रम से वर्णन है। आगम, न्यायशास्त्र तथा अन्य जैन शास्त्रों में जिस भी सन्दर्भ में अनेकान्त की चर्चा की गयी है उन सभी को चाहे वह स्याद्वाद, सप्तभंगी, नयवाद या प्रमाण हो अथवा विभिन्न दार्शनिक मतवादों के साथ तर्क-वितर्क, उन सभी विषयों की क्रमिक, व्यवस्थित व सुन्दर प्रस्तुति इस ग्रन्थ में मूल शास्त्रों के उद्धरणों के साथ की गयी है। इतने अधिक विषयों का प्रामाणिक संग्रह एक ही

ग्रंथ में होना ही इसका वैशिष्ट्य है। उपसंहार में लेखक ने उन विषयों को भी ले लिया है जिनकी चर्चा अनेकान्त को लेकर प्रकारान्तर से होती रहती है। उन विषयों में महत्त्वपूर्ण है विभिन्न दर्शनों में अनेकान्तवाद की खोज। इसी के साथ आधुनिक विज्ञान, भौतिकवाद-अध्यात्मवाद का समन्वय आदि महत्त्वपूर्ण विमर्श भी इस कृति में किये गये हैं। अनेकान्त विषयक अब तक उपलब्ध सामग्री का किसी न किसी तरह समावेश इस ग्रन्थ में मिल जाता है। लगभग साढ़े पांच सौ पृष्ठों वाले ग्रन्थ का गरिमापूर्ण प्रकाशन सन् 2005 में भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर, जयपुर ने किया है तथा मूल्य भी मात्र सौ रुपये रखा है। जैनदर्शन पर शोध कार्य करने वाले विद्वानों तथा शोधार्थियों के लिए यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। एक ही स्थान पर इतना समग्र विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रंथ के शुभाशंसनम् में प्रो. विश्वनाथ मिश्र जी की यह पंक्ति मेरे मन की भावना को भी व्यक्त कर रही है –

'निर्विवादमिदं यत् अनेकान्तवादमवगन्तुं व्याख्यातुं च इदमेकमेव पुस्तकं पर्याप्तमस्ति।'

– डॉ० अनेकान्त जैन

पुस्तक का नाम	–	जैनदर्शन में अनेकान्तवाद : एक अनुशीलन
लेखक	–	डॉ० अशोक जैन
प्रकाशक	–	भ० ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर, जयपुर
प्रकाशन वर्ष	–	2005 ई०
मूल्य	–	100 रु०

संस्था की आजीवन सदस्यता शुल्क
रु. 1100/-
अनेकान्त वार्षिक शुल्क
रु. 30/
इस अंक का मूल्य
रु. 25/-

सदस्यों एवं मंदिरों के लिए निःशुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकेट
नई दिल्ली-110 002

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

वीर सेवा मंदिर
(जैन दर्शन शोध संस्थान)
21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522
संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अंतर्गत आयकर में छूट
(रजि. आर 10591/62)